भट्टिकाव्य एवं पाणिनीय व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ॰ शशि बाला

वैयाकरण महाकवि भट्टिकृत भट्टिकाव्य व्याकरण और काव्यकार दोनों का एकत्र समन्वय है। ऐसा काव्य, जो काव्य के साथ-साथ व्याकरणशास्त्र का भी गहन बोध कराये, संस्कृत में दूसरा नहीं है। भट्टिकाव्य पर हुए अनेक कार्यों में इस कार्य का वैशिष्ट्य यह है कि यह ग्रन्थ उसके भाषाशास्त्रीय और समालोचनात्मक विवरण को प्रस्तुत करता है। भट्टि द्वारा सम्मत वर्ण-समुदाय प्रयुक्त धातुयें, पाणिनि-सूत्रों का उपयोग, तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग आदि सभी विषय प्रमाणपूर्वक यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। हिन्दी भाषा में यह ग्रन्थ एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है।

मूल्य : २२५-००

भट्टिकाव्य एवं पाणिनीय व्याकरण

(तुलनात्मक अध्ययन)

शशि बाला शर्मा

विद्यानिधि प्रकाशन

दिल्ली

विद्यानिधि प्रकाशन

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक

ब्लाक डी, गली नं० 10

(समीप श्री महागौरी मन्दिर)

खजूरी खास, दिल्ली-110094

प्रथम संस्करण : 1994

मूल्य : 225·00

मुद्रक :

आर० आर० प्रिन्टर्स,

X-3, गली नं० 3, ब्रह्मपुरी, दिल्ली-53

पुरोवाक्

संस्कृतव्याकरणमहाम्भोनिधिमन्थनोत्थं सारस्पं, भट्टिकाव्य एवं पाणिनीय व्याकरण आख्यसन्दर्भो विदुषां करकमलेषु समर्पितो विद्यते। अस्मिन् हि पुस्तके भट्टिकाव्याधारेण संस्कृतव्याकरणस्य मूलङ्कषं भाषाशास्त्रीयं एवं समालोचनात्मकं विवरणं वरीवर्त्ति। सन्दर्भेऽस्मिन् निम्नलिखिता विषया गर्भीकृता अवलोक्यन्ते—ध्वनि-सन्धि-समास-सुबन्त-तिङन्त-कृत्-तद्धित वाक्यादयः।

संस्कृतव्याकरणेत्रिषष्टि वर्णा विद्यन्ते परं भट्टिकाव्ये एकपञ्चाशद्वर्णा-स्वोपलालिता, त्रयोदश: स्वराः, 'अष्टात्रिंशच्च व्यञ्जनानि। ऋकारलृकारौ भट्टिकाव्ये दुर्लभध्वनी, इति आशेते ग्रन्थकार्त्री तथा च ऋकारस्य नवधा, लृकारस्य चतुर्धा एव प्रयोगोऽभूद् भट्टिकाव्ये, इति ग्रन्थकर्त्र्याडिण्डिमः। सन्धिविषये भट्टिमहाभागेन प्रायेण सूत्राणामेवोदाहरणानि दत्तानि। तद्यथा तावासनादि० (भ० का० II 26) तु० एचोऽयवायावः (पा० IV 1.78) इत्येवमादयः। प्रत्युदाहरणानाममावो नितराम् अक्षिलक्षीभवति। महाकविभट्टिना-व्याकरणप्रक्रियां प्रदर्शयितुं प्रायेण पाणिनिक्रम एवोपाश्रितः। भट्टेर्मते व्याकरणं काव्यद्वारेणैव रुचिकरं भवति। बहुव्रीहिसमासस्तावत् कियच्चारु-तया ग्रथितः

अभ्विन्दरेणुपिचरसारसरबिहारिविमलबहुचारुजलम्।
रविमणिसंभवहिमहरसमाबद्धबहुलसुरतरूधुयम्॥

(भ० का० XIII.19)

भट्टिकाव्ये सुप्सुपा समासस्योल्लेखः प्रशंसाभाजनं समजनि तच्च भाष्यकारेण **सहसुपा** (पा० II.1.4) सूत्रे प्रतिपादितः, 'सुप् च सह सुप् सम-स्यतेऽधिकारश्च लक्षणं व, यस्य समासस्य अन्यलक्षणं नास्ति इदं तदस्थं लक्षणं भविष्यति', तद्यथा प्रातूनि (भ० का० I.18) प्रकृष्टेन तनूनि, विचित्रम् (भ० का० II 17) विशेषेणचित्रम्, अतिगुरुः (भ० का० II.39) अत्यन्तगुरुः, इत्येवमादयो वैय्याकरणपाटवं सुतरां प्रकटीकुर्वन्ति। अन्यत्र दुर्लभाः शब्दा भट्टिकाव्यस्य सुबन्ते प्रकरणे स्थानं जगृहुः इति चकाण सन्दर्भकर्तृ। नैकेषु स्थलेषु व्युत्पत्तिलभ्यानर्थान् त्यक्त्वाभिन्नान्नैवार्थानोपलालयति, तद्यथा फले-ग्रहिन् (भ० का० II.33) इत्येतस्य न तदर्थो यः पाणिनिना स्वीये फलेग्रहि-रात्मम्भरिश्च (पा० III.2.26) सूत्रे प्रतिपादितः। तिङन्तपदप्रयोगेऽन्यान् सर्वान् वैय्याकरणान् अतिशेरत इति नास्ति संशयावकाशः। भट्टिकाव्ये एता-दृशः श्लोको विद्यते यत्र सुबन्तपदव्यवधानाद् ऋतेऽपि केवलमाख्यातेनैव सर्व-भावम् आचचक्षे, तद्यथा—

भ्रेमुर्ववल्गुर्ननृतुर्जजक्षुर्जगु समुत्पुप्लुविरे निषेदुः ।
अस्फोटयां चक्रुरभिप्रणेदु रेजुर्ननन्दुवियुयुः समीयुः ॥
(भ० का० XIII 28)

सम्पूर्णेऽपि भट्टिकाव्ये अशित्युत्तरचतुष्शतमिति यावत् धातूनां प्रयोगोऽभूदिति प्रतिपादितं शशिना। कृत्प्रदप्रयोगोऽपि सन्दर्भेऽस्मिन् नूनमुच्चतमां कोटिमवगाहते। नवत्युत्तरत्रिशतमिति यावत् पाणिनीय सूत्राणामुदाहरणानि भट्टिना पाणिनिदृष्ट्या एवोपलालितानि, इति गदितं शशिना। तद्धितप्रत्ययप्रयोगेऽप्यसौ सर्वातिशायी। अस्मिन् प्रकरणे शताधिकानां तद्धित प्रत्ययानां प्रयोगो नानार्थेषु सम्बभूव, इति रणितं ग्रन्थकर्त्र्याण। वाक्यरचनाविषयक अध्ययायोऽपि प्रमाण्यकोटिमवगाहते ग्रन्थस्यास्येति को नाम संशयीत।

ग्रन्थकर्त्र्या मम शिष्यया शशिशर्मणा यावन्तोऽपि विषयाः पुस्तकेऽस्मिन् गर्भीकृताः ते सर्वे युक्तिप्रमाणोद्धरण पूर्वकमेव समालोचिताः सावष्टम्भा न कर्हिचिन्निरवष्टम्भाः। उपपत्तित्वेनोपाततः पदानि सर्वत्रैव टिप्पणीभिरलङ्कृतानि, इति निश्चप्रचम्। यच्च क्वचिदत्र पुनरुक्तिवदाभासमाना सन्दर्भाः प्रतीयेरन् तेऽपि विषयविशदीकरण प्रयोजना एव खलु बोद्धव्याः। तत्तत् स्थानानां ते ते विषया यथातथ्येनैव विशदीकृताः। अर्वाचीनानामपि विदुषां मतानि तत्तत्स्थलेषु याथार्थ्येनैवोद्गिरणितानीति नास्ति सन्देहलेशोऽपि। संस्कृतव्याकरणगिरा गुम्फितो ग्रन्थोऽयं समारम्भादन्तपर्यन्तं एकामेव व्याकरणशैलीमवलम्ब्य नितरां बाभासतेतराम्। अत एव भाषातत्त्वबुभुत्सुषु समादरणीयो भविष्यति। अन्यासु भाषासु ईदृशाः ग्रन्था अवलोक्यन्ते परं हिन्दीभाषायान्तु ईदृशोग्रन्थस्य नव एवावतार इति मदीया बुद्धिः। शशिना ग्रन्थनिर्माणेन संस्कृतव्याकरणस्य महती सेवा कृतेति सा शब्दशास्त्रप्रणयिनां सुतरां धन्यवादार्हा। अत एव प्रमोदभरनिर्भरेण मनसा ग्रन्थस्य प्रस्तुतस्य प्रसारं यशोभिवर्धनञ्च वाढं कामये।

रोहतकः
7.10.93

वाग्देवताचरणकमलचञ्चरीकः
यज्ञवीरो दहियाः
प्रोफेसर एवम् अध्यक्षः संस्कृतपालिप्राकृतविभागः,
डीन आफ ह्युमन्टीज, महर्षिदयानन्द-
विश्वविद्यालयः, रोहितकम्, हरयाणा
भारतः।

प्राक्कथन

641 ईस्वी में भट्टिकाव्य का निर्माण हुआ। उस समय से लेकर आज तक भट्टिकाव्य पर अनेक कार्य हुए हैं, जिनका उल्लेख सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में किया गया है, परन्तु इस काव्य पर व्याकरण की दृष्टि से अभी तक कोई शोध कार्य मेरी दृष्टि में नहीं आया। जबकि यह काव्य व्याकरण सिखाने के लिए ही रचा गया था और उस पर अभी तक कोई भी कार्य व्याकरण की दृष्टि से न हो यह अभाव मुझे अनेक वर्षों से अखरता रहा। इसी अभाव ने मुझे इस पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। प्रस्तुत पुस्तक इस अभाव को पूरा कर सकेगी ऐसी मुझे आशा है।

मैंने अपने परम श्रद्धेय गुरुवर डॉ० यज्ञवीर जी की सहायता से इस को 9 अध्यायों में विभाजित किया है, जो कि निम्नांकित हैं—

प्रथम अध्याय	—भूमिका
द्वितीय अध्याय	—ध्वनि
तृतीय अध्याय	—सन्धि
चतुर्थ अध्याय	—समास
पंचम अध्याय	—सुबन्त
षष्ठ अध्याय	—तिङन्त
सप्तम अध्याय	—कृत्-प्रत्यय
अष्टम अध्याय	—तद्धित प्रत्यय
नवम अध्याय	—वाक्य-विचार
ग्रन्थानुक्रमणिका	

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशक आदरणीय डॉ० यज्ञवीर दहिया जी की हृदय से अभारी हूँ, जिन्होंने स्नातकोत्तर कक्षा से ही अध्ययन के लिए सतत् प्रेरणा दी तथा मेरी शोध-चेतना को उद्बुद्ध करने में महत् योग दिया। उनके पथ-प्रदर्शन, स्नेह और प्रोत्साहन से ही इस शोध कार्य को पूरा करने में समर्थ हो सकी।

संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं अन्य गुरुजनों तथा पुस्तकालय के अधिकारियों से मैं अपने अध्ययन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित हुई हूँ, वे सभी मेरे लिए श्रद्धेय हैं एवं मैं उन सभी का हार्दिक धन्यवाद करती हूँ।

इस कार्य को सम्पन्न करवाने का श्रेय मेरे पूज्य माता-पिता तथा मेरे जीवन-साथी "श्री धर्मदत्त शर्मा" को जाता है, जिनके सहयोग और प्रोत्साहन के विषय में शब्दों से कुछ भी कहना मुझे सूर्य को दीपक दिखाने के समान लगता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में मुझे अनेक विद्वानों के ग्रन्थों तथा शोध-पत्रों से पर्याप्त सहायता मिली है। पाद-टिप्पणी तथा ग्रन्थानुक्रमणिका में उनके नामों और कृतियों का पूरा उल्लेख कर दिया गया है। अतः उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनके बहुमूल्य ग्रन्थों से मैंने किंचित् भी सहायता ली है।

अन्त में मैं परम पूज्य गुरुवर जी एवं परमपिता परमात्मा को शत-शत नमन करती हूँ जिनके आशीर्वाद से मेरा यह काम सम्पन्न हो सका।

मेरा विश्वास है कि मेरा यह प्रयास विद्वानों को पसन्द आएगा और उनके स्नेह का भाजन बनेगा।

—**शशि शर्मा**

संकेत सूची

अदादि०	—अदादिगण
अथर्व प्रा०	—अथर्व प्रातिशाख्य
आपि० शि०	—आपिशाली शिक्षा
उ० पु०	—उत्तम पुरुष
ऋ० प्रा०	—ऋक् प्रातिशाख्य
ऋ० वे०	—ऋग्वेद
क्रयादि०	—क्रयादिगण
चुरादि०	—चुरादिगण
जुहो०	—जुहोत्यादिगण
तना०	—तनादिगण
तुदादि०	—तुदादिगण
तै० प्रा०	—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
दिवादि०	—दिवादिगण
पा०	—पाणिनि
पा० शि०	—पाणिनि शिक्षा
पा० सू०	—पाणिनि सूत्र
प्र० पु०	—प्रथम पुरुष
भ० का०	—भट्टि काव्य
भ्वादि०	—भ्वादिगण
भ० का० 24	—भट्टि काव्य, द्वितीय सर्ग, 24 वाँ श्लोक
म० पु०	—मध्यम पुरुष
मा० धा०	—माधवीया धातुवृत्ति
या० शिक्षा	—याज्ञवल्क्य शिक्षा
वा० सं०	—वाजसनेयि संहिता
वै० व्या०	—वैदिक व्याकरण
रुधादि	—रुधादिगण
वि० लि०	—विधि लिंग
सम्पा०	—सम्पादक
स्वा०	—स्वादिगण
साम० प्रा०	—सामवेद प्रातिशाख्य
सि० कौ०	—सिद्धान्त कौमुदी
सू०	—सूत्र

विषयानुक्रमणिका

अध्याय प्रथम

भूमिका

भट्टिकाव्य महाकवि भट्टि की कृति है। इस महाकाव्य के 22 सर्गों में श्री राम के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की 'रामायण कथा' को निबद्ध किया गया है। इस महाकाव्य का उपजीव्य ग्रन्थ वाल्मीकि-रामायण है। कथाभाग के उपकथन की दृष्टि से यह महाकाव्य 22 सर्गों में विभाजित है तथा महाकाव्य के लक्षणों से पूर्णतया समन्वित है। रचना का मुख्य उद्देश्य व्याकरण एवं साहित्य के लक्षणों को लक्ष्य द्वारा उपस्थित करना है।

लक्ष्य द्वारा लक्षणों को उपस्थित करने की दृष्टि से यह महाकाव्य चार काण्डों में विभाजित है। जिनमें तीन काण्ड संस्कृत व्याकरण के अनुसार विविध शब्द रूपों को प्रयुक्त कर रचयिता का उद्देश्य सिद्धि करते हैं। मध्य में एक काण्ड काव्य-सौष्ठव के कतिपय अंगों को अभिलक्षित कर रखा गया है। रचना का अनुक्रम इस प्रकार है कि प्रथम काण्ड व्याकरणानुसारी विविध शब्द रूपों को प्रकीर्ण रूप से संगृहीत करता है। द्वितीय काण्ड 'अधिकार काण्ड' है जिसमें पाणिनीय व्याकरण के कतिपय विशिष्ट अधिकारों में प्रदर्शित नियमों के अनुसार शब्द प्रयोग है। तृतीय काण्ड साहित्यिक विशेषताओं को अभिलक्षित करने की दृष्टि से रचा गया है, अतएव इस काण्ड को महाकवि ने 'प्रसन्न काण्ड' की संज्ञा दी है। इस काण्ड में चार अधिकरण हैं—

प्रथम अधिकरण में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के लक्ष्य हैं। द्वितीय अधिकरण में माधुर्य गुण के स्वरूप का प्रदर्शन लक्ष्य द्वारा किया गया है।

तृतीय अधिकरण में भाविकत्व का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कथानक के प्रसंगानुसार राजनीति के विविध तत्वों एवं उपायों पर प्रकाश डाला गया है। 'प्रसन्न काण्ड' का चतुर्थ अधिकरण इस महाकाव्य का एक

विशेष रूप है—इसमें ऐसे पद्यों की रचना की गई है जिनमें संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का समानान्तर समावेश है। वही पद्य संस्कृत में निबद्ध है जिसकी पदावली प्राकृत पद्य का भी यद्यावत् स्वरूप लिए हुए है और दोनों भाषाओं में प्रतिपाद्य अर्थ भी एक ही है। भाषा सम का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह अंश भट्टिकाव्य की निजी विशेषता है। अन्तिम काण्ड पुन: संस्कृत व्याकरण के एक जटिल स्वरूप तिङन्त के विविध शब्द रूपों को प्रदर्शित करता है। वह भट्टिकाव्य में सबसे बड़ा काण्ड है।

लक्षणात्मक इन चार काण्डों में कथावस्तु के विभाजन की दृष्टि से प्रथम काण्ड में पहले पांच सर्ग हैं, जिनमें क्रमश: राम-जन्म, सीता-विवाह, राम का वन-गमन एवं सीता-हरण तथा राम के द्वारा सीतान्वेषण का उपक्रम वर्णित है। द्वितीय काण्ड अग्रिम चार सर्गों को व्याप्त करता है जिसमें सुग्रीव का राज्याभिषेक, वानर-भटों द्वारा सीता की खोज, लौट आने पर अशोक वाटिका का भंग और मारुति को पकड़कर सभा में उपस्थित किए जाने की कथावस्तु वर्णित है। तृतीय प्रसन्न काण्ड में अगले चार सर्ग हैं, जिनमें सीता के अभिज्ञान का प्रदर्शन, लंका में प्रभाव का वर्णन, विभीषण का राम के पास आगमन तथा सेतुबन्ध की कथा है। अन्तिम तिङन्त काण्ड अगले 9 सर्ग ले लेता है जिनमें शरबंध से लगाकर राजा रामचन्द्र के अयोध्या लौट आने तक की कथा वर्णित है। चारों काण्ड और बाईस सर्गों में 1625 पद्य हैं, जिनमें प्रथम पद्य मंगलाचरण वस्तु निर्देशात्मक है तथा अन्तिम पद्य काव्योपसंहार का है। 1625 पद्यों के इस महाकाव्य में अधिकांश प्रयोग अनुष्टुप श्लोकों का है जिनमें छ:, नौ तथा चतुदर्श एवं द्वाविंश सर्ग उपनिबद्ध हैं। उपजाति छन्द में चार सर्ग हैं, प्रथम, द्वितीय, एकादश तथा द्वादश। दशम सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है जिनमें पुष्पिताग्रा प्रमुख है। इनके अतिरिक्त प्रहर्षिणी, मालिनी, औपच्छंदसिक, वंशस्थ, वैतालिय, अश्वललित, नंदन, पृथ्वी, रूचिरा, नर्कुटक, तनुमध्या, त्रोटक, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहरण कलिका, मन्दाक्रान्ता, शार्दुलविक्रीडित एवं स्रग्धरा छन्दों का छुटपुट प्रयोग दिखाई देता है।

साहित्य की दृष्टि से भट्टिकाव्य में प्रधानत: ओजोगुण एवं गौड़ी रीति है, तथापि अन्य माधुर्यादि गुणों के एवं वैदर्भी तथा लाटी रीति के निदर्शन भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

भट्टि की कविता में आडम्बर तथा कृत्रिमता का दोषारोपण किया जाता है, क्योंकि उन्हें एक साथ व्याकरण के नियमों और काव्य की मौलिकता का समावेश करना पड़ा है। किन्तु उसमें काव्य गुणों का सर्वथा अभाव है, यह कहना उचित नहीं लगता। उसमें स्थान-स्थान पर काव्योचित सरसता, रोचकता और मधुरता विद्यमान है। उनके वस्तु वर्णन में व्यंजना की प्रभाव वाली छटा, संवादों की रोचकता और प्राकृतिक दृश्यों का मनोरम चित्रण उनकी काव्यात्मकता का मूल्यांकन करने के लिए यथेष्ट रूप से इस काव्य में सन्निविष्ट है। उनके काव्य में प्रबन्धात्मक प्रौढ़ता की अवश्य कमी है, किन्तु उनकी प्रसाद गुणोपेत भाषा उनके उत्कृष्ट कविकर्म की पहचान है। इस क्षेत्र में कालिदास से लेकर भट्टि तक की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय डॉ० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में इस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं: 'कालिदास रसवादी कवि हैं, तो भारवि कलावादी कवि, अवघोष दार्शनिक उपदेशवादी कवि हैं, तो भट्टि व्याकरण शास्त्रोपदेशी कवि।'[1] उनका यह व्याकरण निष्ठ अन्तर ही उनके कविहृदय को स्वतन्त्र गति से आगे नहीं बढ़ने देता है। यही कारण है कि उनकी शैली में सहज प्रवाह का अभाव है।

इस प्रकार भट्टि के महाकाव्य का संक्षिप्त तथा आलोचनात्मक परिचय प्राप्त कर लेने पर स्वाभाविक रूप से ही उनके पाण्डित्य का पता लग जाता है। वे महाकवि होने के साथ-साथ अच्छे वैयाकरण और निपुण अलंकार शास्त्री भी हैं। इस ग्रन्थ के अध्यन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक कवि के लिए शब्दार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। इस महाकाव्य का रसास्वादन वही कर सकता है जो वैयाकरण भी हो और आलंकारिक भी। भट्टि ने स्वयं अपनी रचना का गौरव प्रकट करते हुए कहा है कि यह मेरी रचना व्याकरण के ज्ञान से हीन पाठकों के लिए नहीं है।[2] यह काव्य टीका के सहारे ही समझा जा सकता है। यह मेधावी विद्वान के मनोविनोद के लिए तथा सुबोध छात्र को प्रायोगिक पद्धति से व्याकरण के दुरूह नियमों से अवगत कराने के लिए रचा गया है।

व्याख्या-गम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चाऽस्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥

—भ० का० XX II. 34

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला पृ० 855.
2. भ० का० XX II. 33

जो विद्वान व्याकरण के ज्ञाता हैं उनके लिए यह ग्रन्थ दीपक की भाँति है, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से रहित लोगों के लिए अन्धे के हाथ में दिए गए दर्पण के समान है—

दीपतुल्यःप्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्ताऽदर्श इवाऽन्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥—भ०का० XX II. 33

भट्टि के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उस पर शैली में प्रवाह के अभाव का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। यद्यपि 'अधिकार काण्ड' काव्यात्मक प्रवाह में बाधक प्रतीत होता है, परन्तु महाकवि ने प्रकीर्ण श्लोकों से इस बाधा को दूर करने का प्रयास किया है। वास्तविक बाधा भाषा सम के प्रयोग में आई है। जहां कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का एक साथ अध्ययन करते हुए पाठक वास्तविक कथा को भूल जाता है। तिङन्त काण्ड में कथा-प्रवाह में बिना बाधा सफलता पूर्वक कवि आगे बढ़ा है। भाषा-सम में भी कथा-प्रवाह के लिए कवि सचेत है। तथा वह कथा को असंकीर्ण श्लोकों से आगे बढ़ाता है। कई बार उसे विशेष लकार का प्रयोग करने के लिए उस तरह का वातावरण बनाना पड़ता है। फिर भी व्याकरणिक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भी काव्य-प्रवाह को सफलतापूर्वक बनाए रखा है।

जैसा कि भट्टि के संकेत से ही स्पष्ट है कि उसकी रचना का मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों की जानकारी देना है। व्याकरण के नियम उसकी भाषा में एक विशेष रूप में निबद्ध किए गए हैं। कई स्थानों पर श्लोक रचना में भट्टि ने पाणिनि के सूत्रों को ज्यों का त्यों प्रयोग किया है। जैसे — पा० सू० 3.1.41 'विदांकुर्वन्त्वित्यन्तरस्याम्' का 'विदांकुर्वन्तु' भ०का० 6.4 दिया है। इसी प्रकार पा०सू० 3.1.122 'अमावस्यदन्यतरस्याम्' का अमावस्यासमन्वये भ० का० 6.64, पा० सूत्र 8.3.90 'सूत्रं प्रतिष्णातं' का 'सुप्रतिष्णातसूत्राणाम्' भ० का० IX. 83 का प्रयोग किया है। भ० का० VI. 54, VII. 23.

अधिकार काण्ड में प्रायः एक सूत्र का एक ही उदाहरण मिलता है। जैसे—पा० सू० 3.2.16 'चरेष्टः' सूत्र का 'वनेचराऽग्रयाणाम्' भ० का० 5.97, पा० सू० 3.2.17 'भिक्षासेनादायेषु च' का 'आदायचरः' भ० का० 5.97 दिया है। ऐसे उदाहरण जो काव्य-प्रवाह में रुकावट डाल सकते थे

भट्टिकाव्य में छोड़ दिए गए हैं। भट्टि ने बहुत कम अधिकार सूत्रों का प्रयोग किया है तथा उस मध्य में भी काव्य की रोचकता को बनाए रखने के लिए प्रकीर्ण श्लोकों को रख दिया है। उन्होंने पाणिनि सूत्रों को क्रम से निबद्ध करते हुए बीच में आने वाले सभी वैदिक सूत्र, प्रत्युदाहरण तथा कात्यायन के वार्तिकों को छोड़ दिया है। संज्ञा के प्रयोग में भट्टिकाव्य में सर्वाधिक उपयुक्त उदाहरण मिलता है। जैसे स्थाघ्वोरिच्च II. 1.17 में घु से तात्पर्य/दा तथा/धा धातुओं से है परन्तु भट्टि ने केवल एक धातु का प्रयोग 'आधिषत' भ० का० 7.102 दिया है। इसी तरह प्रत्याहार सूत्रों में भी एक-एक उदाहरण दिया है। जैसे—

पा० सू० 8.4.32 'इजादेश च सनुमः' के इच् प्रत्याहार में इजादि धातु 'इरिव गतौ' का एक उदाहरण 'प्रेखणः' भ० का० IX. 106 है।

पा० सू० 8.4.31 'हलश्चेजुपधात्' सूत्र की हलादि इजुपध धातु का उदाहरण 'प्रकोपणम्' भ० का० IX. 105 है।

पा० सू० 3. 1.36 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' के इच् प्रत्याहार में से केवल 'ईहांचक्राते' भ० का० 5.106 किया है।

अध्याहार सूत्रों में भी पहले आने वाले सूत्र के ही उदाहरण अधिकतर भट्टिकाव्य में दिए गए हैं। दोनों सूत्रों के उदाहरण बहुत ही कम दिए हैं। जैसे—पा० सू० 3.2.44 'क्षेम प्रियमद्रेऽण् च' में पूर्व सूत्र से प्राप्त खय् प्रत्यय का उदाहरण दिया है, अण् को छोड़ दिया है।

प्रियंकरौ —भ० का० 6.106
क्षेमंकराणि—भ० का० 6.106

पा० सूत्र 2.3.37 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' का तथा पूर्व सूत्र दोनों का उदाहरण भ० का० में दिया गया है—

कस्य हेतोः—भ० का० 8.104

इस शब्द की व्याकरणिक व्याख्या में कहा गया है कि 'चकारात् षष्ठी, पक्षे तृतीया च।' भ० का० 8.104

जिस विशेष शब्द से पाणिनि सूत्रों में धातु समूह का निर्देश किया जाता है उसी विशिष्ट शब्द का उदाहरण भ० का० में मिलता है अन्य धातुओं को छोड़ दिया गया है।

जैसे—

पा० सूत्र 3. 1.57 'इरितो वा' से 'इरित धातुओं से विहित च्लि के स्थान में विकल्प से अङ् आदेश किया गया है। भ० का० में केवल 'श्च्युतिर क्षरणे' धातु का ही उदाहरण दिया गया है—

अश्च्यतुत्—भ० का० 6.28
अच्योतीत्—भ० का० 6.29

इसी तरह पा० सू० 3. 1.134 सूत्र 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच:' से निर्दिष्ट नन्दि धातु का उदाहरण दिया गया है—

कपिनन्दन:—भ० का० 6.72

केवल एक बार पांच धातुओं में से दो के उदाहरण दिए गए हैं—

पा० सूत्र 6.2.75 'किरश्च पंचम्य:' के

चिकरिशो:—भ० का० IX. 54 कृ विक्षेपे
जिगरिषु: —भ० का० IX. 54 गृ निगरणे

एक शब्द से ही जब शब्द-समूह का वर्णन किया गया हो तो भी केवल प्रथम शब्द का एक ही उदाहरण भ० का० में दिया गया है।

पा० सूत्र 8.3.98 'सुषमादिषु च' में से सुषमादि शब्दों में से केवल 'सुषमा' शब्द का ही उदाहरण है—

सुषाम्नीम्—भ० का० IX. 85

केवल कुछ प्रयोगों को छोड़कर वैकल्पिक प्रयोग नहीं दिए गए हैं, तथा अन्य वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट वैकल्पिक प्रयोग भ० का० में छोड़ दिए गए हैं।

पा० सूत्र 3. 1.57 'इरितो वा' से निर्दिष्ट वैकल्पिक अङ् का उदाहरण भ० का० में दिया गया है—

अवच्युतत्—भ० का० 6.28
अच्योतीत्—भ० का० 6.29

पा० सू० 1. 2.25 'तृषिमृषिकृशे: काश्यपस्य' में तृष, मृष् तथा 'कृश्' धातुओं से विहित-इडागम-विशिष्ट क्त्वा—प्रत्यय काश्यपाचार्य के मत में विकल्प से कित् नहीं होता है। इसमें पाणिनि के अनुसार होने वाला कित् भट्टि काव्य में दिया गया है।

तृषित्वा —भ० का० 8.106

छोटे सूत्रों के प्रायः सभी उदाहरण दिए गए हैं। एक सूत्र के तो बीस वैकल्पिक उदाहरणों में से पन्द्रह भट्टिकाव्य में मिलते हैं। पाणिनि सूत्र 7.1.143 'विभाषाग्रह' के सामान्य तथा वैकल्पिक दोनों उदाहरण भट्टिकाव्य में दिए गए हैं—

ग्रहेण —भ० का० 6.83

ग्राहेण —भ० का० 6.83

निम्न पाणिनीय सूत्र के 20 में से 15 उदाहरण भ० का० में दिए गए हैं—पा०सू० 6.2.49 'सनीवन्त र्द्ध भ्रस्ज दम्भु श्रिस्वृपूर्ण भरज्ञपिसनाम्।'

दिदेविषुम् —भ० का० IX. 32
ईर्त्सुम् —भ० का० IX. 32
दुद्युषुः —भ० का० IX. 32
आदिधिषुः —भ० का० IX. 32
धिप्सुम् —भ० का० IX. 33
दिदम्भिषुः —भ० का० IX. 33
संशिश्रीषुः —भ० का० IX. 33
बिभ्रक्षुः —भ० का० IX. 34
बिभ्रज्जिषुः —भ० का० IX. 34
संयुयषुम् —भ० का० IX. 35
यियविषुः —भ० का० IX. 35
प्रोर्णुनविषुः —भ० का० IX. 36
प्रोर्णनुषुः —भ० का० IX. 36
जिज्ञापयिषुः —भ० का० IX. 37
बुभुर्षु —भ० का० IX. 37

इसी तरह निपातन में भी एक ही अत्युपयुक्त उदाहरण को भ०का० में दिया गया है, अन्यों को छोड़ दिया है। जैसे—पा० सूत्र 3.1.129 'पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या' सूत्र के एक ही शब्द का उदाहरण दिया है।

निकाय्य —भ० का० 6.67

एक ही अर्थ में यदि दो या तीन निपातों का प्रयोग हो तो भी केवल एक ही निपात का प्रयोग किया है।

पा० सूत्र 3.1.130 'क्रतोकुण्ड पाय्यसंचाय्यौ' में क्रतु अर्थ में 'कुण्डपाय्यौ तथा संचाय्यौ' तथा पा० सूत्र 3. 1.131 'अग्नौ परिचाय्यो पचाय्यसमूह्या:' में अग्नि अर्थ में 'परिचाय्य, उपचाय्य तथा संचाय्य' का निपातन है। म० का० में दोनों सूत्रों के एक-एक उदाहरण दिए हैं—

कुण्डपाय्यवताम्—म० का० 6.68
उपचाय्यवताम् —म० का० 6.68

जिस सूत्र में एक ही शब्द का निपातन है उसका पूरा उदाहरण दिया गया है। पा० सूत्र 8.3.90 'सूत्रं प्रतिष्णातम्' में सूत्र अर्थ में प्रति उपसर्ग से परवर्ती 'स्ना' धातु के सकार के स्थान में षत्व का निपातन है। यह पूरे का पूरा सूत्र म० का० में उदाहरण के रूप में दिया गया है। यथा—

सुप्रतिष्णातसूत्राणाम्—म० का० IX. 83

कुछ निपात जो अनावश्यक रूप से दिए गए हैं उनका भी एक ही उदाहरण दिया गया है। पा० सूत्र 8.4.5 'प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्य खदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामति' सूत्र के 21 उदाहरण हो सकते हैं। म०का० में केवल वन शब्द का ही उदाहरण दिया गया है। यथा—

आम्रवणादिभि:—म० का० IX. 94
निर्वणम् —म० का० IX. 94

यदि एक ही निपात का अनेक अर्थों में प्रयोग हो तो एक ही अर्थ का उदाहरण दिया गया है। पा० सूत्र 3. 3.94 'वृक्षासनयोर्विष्टर' में वृक्ष तथा आसन अर्थों में 'विष्टर' शब्द का निपातन है।

'सर्वनारीगुणै: प्रष्ठां विष्टरस्थां गविष्ठिराम्'। म० का० IX. 84 'सम्पूर्ण स्त्रीगुणों से अग्रगामिनी, पवित्र, आसन में स्थित, सत्य बोलने वाली।'

अनेक धातुओं में जब एक विशेष प्रत्यय जोड़ा जाता है तो म०का० में सभी धातुओं को न देकर कम प्रयोग होने वाली तथा काव्य प्रवाह में रुकावट डालने वाली धातुओं को छोड़ दिया है।

पा० सूत्र 3.1.58 'जृस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुचुश्विभ्यश्च' में

इन धातुओं से निहित च्लि को विकल्प से अङ् आदेश किया है। म० का० में दो पहले के तथा एक बाद का उदाहरण दिया गया है।

अस्तम्भीत्—म० का० 6.30
अस्तभत् —म० का० 6.30
अजारीत् —म० का० 6.30
अजरत् —म० का० 6.30
अश्वताम् —म० का० 6.31

एक धातु को जो अनेक अर्थों में प्रयुक्त होती है, बहुत ही कम इसके सभी उदाहरण दिए गए हैं, अधिकतर अनुपयुक्त उदाहरण छोड़ दिए हैं। पा० सूत्र 3. 3. 41 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' का उपसमाधान का उदाहरण छोड़ दिया गया है। यथा—

स्तोककायैः —म०का० 7.42—शरीर अर्थ में घञ्
रक्षोनिकायेषु—म०का० 7.42—निवास अर्थ में घञ्

पा० सूत्र 3. 2.20 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' से हेतु ताच्छील्य तथा अनुकूलता के गम्यमान होने पर कर्मोपपदक 'कृ' धातु से ट प्रत्यय होता है। म० का० में 'ताच्छील्य' अर्थ में 'कृ' धातु से ट प्रत्यय किया गया है। यथा—

त्रपाकरः —म० का० 5.29

यदि अनेक धातुओं का एक ही अर्थ में प्रयोग हो तो म० का० में इस अर्थ में एक धातु का प्रयोग दिखाया गया है।

पा० सूत्र 3. 3.95 'स्थागापापचोः भावे' सूत्र से भाव अर्थ में 'स्था' 'गा' 'पा', 'तथा पच्' धातुओं से स्त्रीलिंग में क्तिन् प्रत्यय होता है। म० का० में केवल 'स्था' धातु से भाव अर्थ में **क्तिन्** प्रत्यय का प्रयोग दिखाया गया है।

स्थितिम् —म० का० 7.68

यदि कुछ धातुओं से एक ही उपसर्ग जोड़ा जाता है तो म० का० में केवल एक ही उदाहरण दिया गया है। पा० सूत्र 3. 3.27 'प्रे द्रुस्तुस्रुवः' से 'प्र' शब्द के उपपद होने पर 'द्रु', 'स्तु' तथा 'स्रु' धातुओं से **घञ्** प्रत्यय होता है।

भ० का० में केवल 'दु' धातु का ही उदाहरण मिलता है। यथा—

पद्रावैः —भ० का० 7.37

इसी तरह कुछ धातुओं से यदि कई प्रत्यय जोड़े जांए तब भी भ०का० में एक ही उदाहरण मिलता है। केवल दो स्थानों पर दो या तीन उदाहरण मिलते हैं। पा० सूत्र 3. 3.26 'अवोदोर्नियः' से 'अव' तथा 'उत्' के उपपद होने पर 'नी' धातु से यञ् प्रत्यय होता है। भ० का० में उत्पूर्वक 'उन्नायान्' भ० का० 7.37 मिलता है।

पा० सूत्र 1. 3.22 'समवप्रविभ्यः स्थः' से सम्, अव, प्र, वि, उपसर्ग विशिष्ट स्था धातु से आत्मने पद होता है। भ० का० में तीन उदाहरण दिए गए हैं। यथा—

अवतिष्ठस्व —भ० का० 8.11
प्रस्थास्यते —भ० का० 8.11
संस्थास्यते —भ० का० 8.11

पा० सूत्र 1. 3.30 'निसमुपविभ्यो ह्वः' के भ० का० में दो उदाहरण दिए गए हैं। यथा—

उपाह्वये —भ० का० 8.17
संह्वयस्व —भ० का० 8.17

धातुओं से प्रत्यय जोड़ते समय भी भट्टिकाव्य में एक ही प्रथम प्रत्यय का उदाहरण दिया गया है। बहुत कम प्रयोगों में दो से छः तक उदाहरण दिए गए हैं। यदि किसी सूत्र में दो से अधिक धातुओं का निर्देश हो तो दो मुख्य उदाहरण देकर शेष को भ० का० में छोड़ दिया गया है। यथा—

पा० सूत्र 3. 1.133 'ण्वुल्तृचौ' में से केवल ण्वुल् प्रत्यय का उदाहरण भ० का० में मिलता है। यथा—

कारकः —भ० का० 6.72

पा० सूत्र 7.2.57 'सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः' में से भ० का० में दो उदाहरण मिलते हैं। यथा—

कर्तिष्यन् —भ० का० IX. 42
नर्त्स्यन् —भ० का० IX. 42

पा० सूत्र 3. 1.141 के छः उदाहरण भ० का० में मिलते हैं। यथा —

धायैः	—भ० का० 6.80
अवश्यायकणास्रावाः	—भ० का० 6.81
चित्तसंस्रावम्	—भ० का० 6.81
अवसायः	—भ० का० 6.82
अवहारः	—भ० का० 6.82
लेहैः	—भ० का० 6.83

पा० सूत्र 3. 1.148 'हश्च व्रीहिकालयोः' से व्रीहि तथा काल अर्थों में 'ओहाक्' तथा 'ओहाङ्' धातुओं से ण्युट् प्रत्यय बताया गया है। काल अर्थ में भ० का० में केवल एक उदाहरण दिया गया है। यथा—

एक हायनसारंगगती—भ० का० 6.86

जब अनेक उपपदों से विशिष्ट धातु से एक से अधिक प्रत्यय लगते हैं तो भ० का० में अधिकतर एक ही उदाहरण दिया गया है। बहुत ही कम स्थलों पर दो, तीन या चार उदाहरण दिए गए हैं। पा० सूत्र 3.2.17 'भिक्षासेनादायेषु च' से भिक्षा, सेना तथा आदाय उपपदों से विशिष्ट 'चर्' से ट प्रत्यय होता है।

आदायचरः —भ० का० 5.97

यहां केवल एक ही उदाहरण दिया गया है।

इसी तरह पा० सूत्र 3. 2.18 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः' का भी एक उदाहरण 'अग्रेसरः' भ० का० 5.97 मिलता है।

पा० सूत्र 3.2.42 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' के दो उदाहरण भ०का० में मिलते हैं। यथा—

सर्वंकषयशःशाखम्	—भ० का० 6.104
अभ्रंकषम्	—भ० का० 6.104

पा० सूत्र 3. 2.48 के 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' के तीन उदाहरण भ० का० में मिलते हैं। यथा—

दूरगैः	—भ० का० 6.110
अन्तगैः	—भ० का० 6.110

अत्यन्तग: —म० का० 6.110

पा० सूत्र 3. 1. 138 के चार उदाहरण म० का० में मिलते हैं। यथा—

घारयै: —म० का० 6.79

घारयै: —म० का० 6.79

उदेजयै: —म० का० 7.79

लिम्पै: —म० का० 6.80

जिन दीर्घ विधायक सूत्रों में अनेक उदाहरण मिलते हैं, भट्टि उनके कम से कम उदाहरण देने की कोशिश करता है।

पा० सूत्र 3. 2.23 सूत्र में के तीन उदाहरण म० का० में दिए गए हैं। यथा—

वैरकारम् —म० का० 5.100

कलहकार: —म० का० 5.100

शब्दकार: —म० का० 5.100

लेकिन कुछ स्थानों पर सात तक उदाहरण म० का० में मिलते हैं। पा० सूत्र 1. 3. 89 सूत्र के म० का० में सात उदाहरण मिलते हैं। यथा—

नर्तयमानवत् —म० का० IX.61

आयासयन्त —म० का० IX.61

परिमोहयमाणाभि:—म० का० IX.63

प्रादमयन्त —म० का० IX.63

वासयते स्म —म० का० IX.64

अरोचयत् —म० का० IX.64

पा० सूत्र 3. 2.21 सूत्र में के छब्बीस उदाहरणों में से म० का० में केवल तीन उदाहरण मिलते हैं। यथा—

दिवाकर: —म० का० 5.99

अन्तकर: —म० का० 5.99

अरुष्करम् —म० का० 5.100

केवल एक स्थान पर बीस में से पन्द्रह उदाहरण म० का० में दिए गए हैं।

पा० सूत्र 3.2.142 सूत्र में के भ० का० में पन्द्रह उदाहरण दिए गए हैं। यथा—

संज्गारिणा	—भ० का० 7.6
द्रोहि	—भ० का० 7.6
खद्योतसम्पर्कि	—भ० का० 7.6
नयनामोषि	—भ० का० 7.6
संसर्गी	—भ० का० 7.8
अनुपकारिणम्	—भ० का० 7.9
योगिनम्	—भ० का० 7.10
अभ्याघातिभि:	—भ० का० 7.7
परिशरिभि:	—भ० का० 7.7
परिसारिण्य:	—भ० का० 7.7
परिदेविनम्	—भ० का० 7.7
आक्रीडिन्:	—भ० का० 7.8
दैवानुरोधिन्य:	—भ० का० 7.9
परिक्षेपी	—भ० का० 7.10
त्यागिनम्	—भ० का० 7.10

धातुओं की लम्बी सूची में से भी उपयुक्त उदाहरण ही दिए गए हैं। बहुत ही कम स्थलों पर सभी उदाहरण दिए गये हैं।

पा० सू० 1. 2.7 सूत्र में की केवल अधिक प्रयुक्त होने वाली 'मृद्' 'मृदित्वा' भ० का० 7.95, 'कुष्'—कुषित्वा भ० का० 7.95, 'मुड'—अमृडित्वा भ० का० 7.96, क्लिश्—क्लिशित्वा भ० का० 7.96 धातुओं के ही उदाहरण दिए गए हैं।

पा० सूत्र 7.2.72 सूत्र में की सभी धातुएं भ० का० में दी गई हैं।

मा न प्रस्तावी	—भ० का० IX. 49
मा न सावी	—भ० का० IX. 50
मा न धावी:	—भ० का० IX. 50

प्रस्तुत प्रबन्ध में व्याकरण के कुछ प्रमुख विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है, अतः इन विषयों का विभाजन इस पुस्तक में इस प्रकार किया गया है।

1. भूमिका 2. ध्वनि-विचार 3. सन्धि
4. समास 5. सुबन्त 6. तिङन्त
7. कृत् प्रत्यय 8. तद्धित प्रत्यय 9. वाक्य विचार ।
10. पाणिनीय सूत्र क्रमानुसार भट्टिकाव्य में उदाहरण ।

प्रत्येक अध्याय की जो मुख्य विशेषताएं भ० का० में उपलब्ध हैं, उनका संक्षेप में परिचय यहां दिया जा रहा है ।

ध्वनि

संस्कृत व्याकरण में वर्णों की संख्या 63 मानी गई है ।[1]

भ० का० में इक्यावन वर्ण मिलते हैं, इनमें तेरह स्वर तथा अड़तीस व्यंजन हैं । स्वरों में से भ० का० में ॠ तथा ॡ दुर्लभ ध्वनियां हैं । 'ॠ' भ० का० में नौ बार तथा ॡ केवल चार बार प्रयुक्त है । 'ॡ' का प्रयोग वैदिक भाषा में बहुत अधिक पाया जाता है । लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग निरन्तर कम होता चला गया है । व्यंजनों में 'ळ' वर्ण का पांच बार, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का एक-एक बार प्रयोग हुआ है । अनुनासिक भ० का० में तीन बार आया है ।

सन्धि

सन्धियों में भट्टि ने प्राय: सूत्रों के ही उदाहरण दिए हैं, प्रत्युदाहरणों का प्रयोग बहुत कम किया है । स्वर-सन्धि का वर्णन भ०का० में पाणिनि क्रम से नहीं किया गया है । व्यंजन सन्धि में भी केवल णत्व सन्धि के ही उदाहरण क्रम से दिए गए हैं । विसर्ग-सन्धि का वर्णन पाणिनि-क्रम से ही किया गया है । इस सन्धि के उदाहरण भ० का० के नवें सर्ग के 58-66 वें श्लोक तक पाणिनीय-क्रम में दिए गए हैं । णत्व-सन्धि के उदाहरण नवें सर्ग के 92 वें श्लोक से 109 वें श्लोक तक दिए गए हैं । इस वर्णन में भट्टि ने पाणिनीय सूत्रों के उस क्रम को छोड़ दिया है जो वैदिक सन्धि के विषय में निर्देश करते हैं । एक स्थान पर णत्व-सन्धि में प्रत्युदाहरण का भी प्रयोग किया गया है ।

समास

इस अध्याय में समास-विषयक विशद विवेचन किया गया है ।

---

1. पाणिनीय शिक्षा 3.4

भ० का० में कई स्थानों पर दीर्घ समासों का प्रयोग किया गया है पर सर्वत्र ऐसा नहीं है। तेरहवें सर्ग में तो प्रायः सभी श्लोकों की दोनों पंक्तियों में विभक्तियों का लोप करके एक-एक शब्द बना दिया गया है। इसमें अधिकतर बहुव्रीहि समास का प्रयोग किया गया है। यथा—

लंकालय तुमुलारव सुभरगभीरोरुकुंजकन्दर विवरम्।
वीणारवरस संगमसुरगण संकुल महातमालच्छायम्॥

—भ० का० XIII.32

शेष काव्य में तीन या चार शब्दों के समस्त पद मिलते हैं। यथा—

शक्त्यृष्टि परिघप्रासगदामुद्गरपाण्यः। —भ० का० IX. 4

विभिन्न विभक्तियों वाले तथा अलग-अलग समासों को जोड़कर भी भ० का० में समस्त पद मिलते हैं। यथा—

राक्षसानामखिलकुलक्षपपूर्व लिंगतुल्यः। —भ० का० IX. 45

इस प्रयोग में कर्मधारय, षष्ठी तत्पुरुष कर्मधारय सप्तमी तत्पुरुष तथा तृतीया तत्पुरुष आदि को संयुक्त किया गया है।

भ० का० में सुप्सुपा, अव्ययीभाव, कर्मधारय, रूपक, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व समास का प्रयोग मिलता है।

भ० का० के टीकाकारों ने विभिन्न वैयाकरणों के विचारों का अनुसरण करते हुए कुछ प्रयोगों को सुप्सुपा समास का नाम दिया है। यथा—

प्रतनूनि —भ० का० I. 18 प्रकर्षेण तनूनि
विचित्रम् —भ० का० II. 17 विशेषेण चित्रम्

कुछ विद्वान्[1] इसे समास की सामान्य विशेषता 'सह-सुपा' मानते हैं कुछ इसे[2] समास की अलग श्रेणी स्वीकार करते हैं। इस विषय में विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया गया है। अव्ययीभाव समास का प्रयोग बहुव्रीहि तथा कर्मधारय की अपेक्षा कम हुआ है।

टीकाकारों[3] ने भ० का० में प्रयुक्त कुछ शब्दों में रूपक समास माना

---

1. महा०भा० पा० सूत्र 2.1.4 पर व्याख्या।
2. A Higher Sanskrit Grammar p. 115 of Art. 185, cf.
3. भ० का० की व्याकरणिक व्याख्या।

है। यह समास न तो वैदिक भाषा में मिलता है, न ही पाणिनि ने इसके लिए कोई नियम बनाया है। टीकाकारों के वर्णन के अनुसार भ० का० में इस समास का प्रयोग बहुत कम हुआ है। एम० आर० काले इस समास के विषय में विवेचन करते हैं। भ० का० में इस समास के उदाहरणों की व्याख्या 'मयूरव्यंसकादयश्च' पा० सू० 2.1.72 से की गई है। यथा—

विप्रवह्नि —भ० का० I. 23
तपोमरुद्भिः —भ० का० II. 28
शोकाग्निना —भ० का० III. 21

सुबन्त

इस अध्याय में भट्टिकाव्य में प्रयुक्त उन शब्दों का निर्देश किया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। अनेक शब्दों में भट्टि ने प्रचलित तथा व्युत्पत्ति परक अर्थों को छोड़कर भिन्न अर्थों का प्रयोग किया है। यथा—

फलेग्रहिन् —भ० का० II. 33

भ० का० में इस शब्द का अर्थ 'ऋषि जो फल लेते हैं' किया गया है। परन्तु पाणिनीय सूत्र में 'फलेग्रहि' शब्द निपातित है। जिसके अनुसार 'फल ग्रहण करने वाला वृक्ष' अर्थ होता है।

इसी तरह 'कारुः' —भ० का० 7.28

शब्द का अर्थ भ० का० में 'करने वाला' दिया है जबकि इसका अर्थ—

1. देवताओं के शिल्पी, विश्वकर्मा।
2. कला, विज्ञान हैं।

इसी तरह अन्य कई शब्दों के भी भिन्न अर्थ दिए गए हैं। भ० का० में अन्यत्र अप्रचलित तथा दुर्लभ शब्दों का भी बहुत प्रयोग हुआ है। यथा—

विशंकटः —भ० का० II. 50
मृदुलाबुनः —भ० का० 5.61
अनुका —भ० का० 5.19

तिङन्त प्रकरण

भ० का० के एक बहुत बड़े भाग में तिङन्त प्रकरण प्रत्येक सर्ग में एक-एक लकार का प्रयोग पूर्ण विस्तार से किया गया है। चतुर्दश सर्ग से

द्वाविंश सर्गों तक नौ लकारों का भट्टिकृत विशद् विवेचन इस अध्याय में दिया गया है। पूरे भ० का० में 480 के लगभग धातुओं का प्रयोग हुआ है। तेरह अन्यत्र दुर्लभ धातुओं का प्रयोग भी भ० का० में मिलता है। इसके साथ ही आत्मनेपद, परस्मैपद, षत्व, णत्व सन्नन्त के प्रयोग भी भ० का० में पाणिनीय-सूत्र क्रम से दिए गए हैं। अनेक ऐसे भी प्रयोग भ० का० में मिलते हैं, जिनकी रूप-रचना के विषय में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है उनका वर्णन यथा स्थान इस अध्याय में किया गया है। बाईस ऐसी धातुओं का प्रयोग भ० भा० में हुआ है जिनका एक से अधिक गणों में प्रयोग हुआ है। भ० का० में एक ऐसा भी पद्य मिलता है जिसमें एक भी सुबन्त पद का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी केवल आख्यात के आधार पर ही वह अपने भाव को कहने में समर्थ है। ऐसा प्रयोग भ० का० में 'पुष्प-तुल्यानां आख्यातानां सुबन्तपदव्यवधानादृते गुम्फनादियमाख्यातमाला' कहा है। यथा—

> **प्रेमुर्ववल्गुर्ननृतुर्जजक्षुर्जगुः समुत्पुप्लुविरे निषेदुः।**
> **आस्फोटयां चकुरभिप्रणेदु रेजुर्ननन्दुर्वियुः समीयुः॥**
>
> —भ० का० XIII. 28

कृत्-प्रत्यय

भ० का० में कृत् प्रत्ययों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। लगभग 390 पाणिनीय सूत्रों के उदाहरण भ० का० में पाणिनीय-कृत् प्रत्यय-सूत्र क्रम से दिए गए हैं। एक सूत्र के एक से छः सात तक उदाहरण भ०का० में मिलते हैं। पाणिनि के 3. 1.96 सूत्र से लेकर 3. 3.128 सूत्रों तक पाणिनीय क्रम को पूर्ण रूपेण अपनाया गया है। तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद के कृत् सम्बन्धी सूत्रों के उदाहरण क्रम से नहीं मिलते हैं। सर्व-प्रथम भ० का० में कृत्य-प्रत्ययों का वर्णन सर्ग 9.47 से 6.67 श्लोक तक मिलता है। छठें सर्ग के 72 वें श्लोक से 87 वें श्लोक तक निरुपपदकृत् अधिकार को लिया है। इसी सर्ग के 88 वें श्लोक से 94 वें श्लोक तक सोपपद कृत् का प्रयोग हुआ है, 95 वें श्लोक से 108 वें श्लोक तक खश् और खच् प्रत्ययों का वर्णन है। पांचवें सर्ग के 97 वें श्लोक से 104 श्लोक तक 'टा' अधिकार है। 'डा' अधिकार छठें सर्ग के 110 वें श्लोक से 112 वें श्लोक तक है। इसके बाद कृत्-सोपपद का छठें सर्ग के 113 वें श्लोक से 136 वें श्लोक तक वर्णन है। अनुपपदकृत् 6.137 से 139 तक है।

ताच्छील्य कृत् का वर्णन 7.1 श्लोक से 7.27 श्लोक तक है। निर-धिकार कृत् 7.29 वें श्लोक से 33 वें तक हैं। भाव से कृत् प्रत्यय 7.34 से 85 वें श्लोक तक है। बीच में 7.68 से 77 वें श्लोक तक स्त्रीलिंग कृत् प्रत्ययों के उदाहरण दिए गए हैं। इनके बाद इनमें प्रयुक्त होने वाले ङित्, कित् अधिकार का 7.91 से 107 श्लोक तक, इट् प्रतिषेध का IX. 12 से 22 वें श्लोक तक, इडाधिकार IX. 23 से IX. 57 श्लोक तक वर्णन है।

तद्धित प्रत्यय

भट्टि काव्य में सौ से अधिक तद्धित-प्रत्ययों के उदाहरण विभिन्न अर्थों में मिलते हैं। यद्यपि इनका प्रयोग भट्टि काव्य में पाणिनीय क्रम से नहीं मिलता, तथापि भ० का० में प्राप्य शब्दों को इस अध्याय में पाणिनीय सूत्र-क्रम से ही प्रस्तुत किया गया है। भ० का० में अपत्यार्थक रक्ताद्यर्थक, समूहार्थक, शैषिक, मतुबर्थक, स्वार्थिक आदि अर्थों में अण्, अण्, ख, यञ्, अण्, घुक्, ईणण्य, दयु, ट्युल, यत्, छ, मयछ्, ईकक्, यत्, वति, त्व, तल, इमनिच्, ष्यण्, ख, खण्, जाहच्, य, वुण्, चुण्युप्, चणप्, शंकटच्, त्यकन्, इतच्, द्वयसच, डट्, वतुप्, तयप्, वुन्, अनुक्, कन्, वति, इनि, वलच्, लच्, विनि, तसिल, ह, थाल, थमु, अस्ताति, अन्, कन्, यत्, वुन्, ष्वुन्, छ, कृत्वसुच्, सुच्, तमप्, इष्ठन्, तरप्, ईयसुन्, कल्पप्, पाशप्, अकच्, र, डुपच्, था, मयट्, यत्, स्न, रात्, साति, डाच्, आकिनी, णच्, छ, अण्, अण्, यञ्, ठक्, तल्, क, डय्, अच्, टच्, षच्, ष्, अप् अस्चि्, अनिच्, इ, कप्, त्रल, दा, हिल्, एनप्, आहि, अतसुच्, आदि प्रत्यय मिलते हैं। यद्यपि इनका प्रयोग करने में भट्टि ने पूर्णतया पाणिनि के नियमों का अनुसरण किया है फिर भी कुछ स्थानों पर अनियमितताएं मिलती हैं जिनका वर्णन यथा स्थान कर दिया गया है।

वाक्य रचना

भट्टि काव्य पद्यबद्ध रचना है इसलिए इसमें कर्त्ता, कर्त्ता के विशेषण कर्म, कर्म के विशेषण, क्रिया विशेषण, अन्य अव्यय और अन्त में क्रिया रूपों के क्रम से वाक्य-रचना नहीं है। वाक्य रचना में पाणिनीय नियमों को पूर्ण रूपेण ध्यान में रखा गया है। भ०का० में वाक्य रचना के प्रधान अंग कारक का विशद विवेचन 8.70 से 8.130 श्लोक तक किया गया है। 8.70

श्लोक से 8.84 तक के श्लोकों में कारकाधिकार, 8.85 से 8.93 तक के श्लोकों में कर्म प्रवचनीय तथा 8.94 से 8.130 तक के श्लोकों में विभक्त्य-धिकार का वर्णन किया गया है। अधिकतर एक सूत्र का एक ही उदाहरण भ० का० में मिलता है, कभी-कभी दो या तीन उदाहरण भी मिलते हैं। पाणिनीय सूत्र 2. 3.29 के 6 तथा 2.3. 69 के सात उदाहरण मिलते हैं। पाणिनीय क्रम से उदाहरण देते हुए बीच में वार्तिकों तथा वैदिक सूत्रों के उदाहरणों को छोड़ दिया गया है। कुछ प्रयोगों के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं उनके विषय में विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

————

अध्याय द्वितीय

ध्वनि विचार

ध्वनि

भ० का० में जो ध्वनियां मिलती हैं वे इस प्रकार हैं—

		ह्रस्व	दीर्घ	
समानाक्षर	कण्ठ्य	अ	आ	उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
	तालव्य	इ	ई	
	ओष्ठ्य	उ	ऊ	
	मूर्धन्य	ऋ	ॠ	
	दन्त्य	ऌ	—	
सन्ध्यक्षर	तालव्य	ए	ऐ	
	ओष्ठ्य	ओ	औ	

स्पर्श	कण्ठ्य	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
	तालव्य	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्
	मूर्धन्य	ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्
	दन्त्य	त्	थ्	द्	ध्	न्
	ओष्ठ्य	प्	फ्	ब्	भ्	म्

अन्तस्थ	तालव्य	य्	संवर नाद, घोष अल्प प्राण
	मूर्धन्य	र्	
	दन्त्य	ल्	
	ओष्ठ्य	व्	
ऊष्म	तालव्य	श्	विवार श्वास, अघोष महाप्राण
	मूर्धन्य	ष्	
	दन्त्य	स्	
महाप्राण	कण्ठ्य	ह्	
अनुनासिक		ँ	
अनुस्वार		ं	
विसर्जनीय		:	
जिह्वामूलीय		≍क≍ख	
उपध्मानीय		≍प≍फ	

ध्वन्यात्मक रूप से स्वतन्त्र संस्कृत वर्णों की संख्या के विषय में बहुत ही वैचारिक मतभेद है। पाणिनि-वर्णोच्चारण-शिक्षा में वर्णों की संख्या 63 निर्दिष्ट है।[1] ऋक्-प्रातिशाख्य[2] में 57, तै० प्रा०[3] में 60, वा० प्रा०[4] में 65 वर्ण मिलते हैं। संहिताओं के आन्तरिक प्रमाणों के अनुसार ऋग्वेद की भाषा में 52 वर्ण तथा अथर्ववेद की भाषा में 49 वर्ण पाए जाते हैं।[5] भ० का० में 51 वर्ण पाए जाते हैं। जिनमें से 13 स्वर तथा 38 व्यंजन हैं।

स्वरों में से ऋ तथा लृ भ० का० की दुर्लभ ध्वनियां हैं। 'ऋ' भ० का० में 9 बार तथा लृ जो कि वैदिक भाषा में बहुत प्रयुक्त है, भ०का० में केवल 4 बार पाया जाता है। व्यंजनों में से 'ञ्' वर्ण पांच बार, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय एक-एक बार तथा अनुनासिक तीन बार मिलते हैं।

अ

अ भ० का० का सबसे अधिक प्रयोग में आने वाला सामान्य स्वर है। अन्य सभी स्वरों की अपेक्षा भ० का० में इसका प्रयोग 20 गुणा अधिक है। पाणिनि[6] इसे कण्ठ्य ध्वनि मानते हैं। इसके आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में अनेक मतभेद हैं। पाणिनि तथा कुछ प्रातिशाख्यों[7] के मतानुसार 'अ' का आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत है। ह्विटने[8] के अनुसार अत्यधिक विकृत स्वर है। ह्विटने का यह विचार पाणिनि[9] के 'अअ' सूत्र पर आधारित है।

---

1. पाणिनीय शिक्षा, 3-4.
2. ऋक् प्रा०, पृ० 30-32, I.1-3, 1.5, I.6-10.
3. तै० प्रा० I. 1-9,1.3.4.8.5.2.52.13.16.21.12.15.
4. वा० प्रा० 8.38.
5. The Language of the Apparva-Veda by Dr. Yajan Veer Delhi, p. 12.
6. पाणिनि शिक्षा, 22.
7. पा० सूत्र 8.4.68 अथर्व प्रा० I.36 वा० प्रा० I. 72 वे सट, पृ० 6.
8. सक० ज० पृ० 19 Skt. Gr. p. 19.
9. अष्टाध्यायी, 8.3.68.

आ

भ० का० में **आ** का प्रयोग **'अ'** के आधे से भी कम है। पाणिनीय नियमानुसार यह कण्ठ्य ध्वनि है। तथा इसका आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। अथर्व प्रा० के अनुसार इसका आभ्यन्तर प्रयत्न विवृततम है।'[1]

इ ई

पाणिनि के अनुसार **इ** तथा **ई** तालव्य ध्वनियां हैं तथा इनका आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। ये तालव्य व्यंजन श्रेणी में अपना अर्द्धस्वर **'य्'** रखते हैं। तै० प्रा०[2] के अनुसार इनके उच्चारण के समय जिह्वा का मध्य भाग पूर्ण रूप से तालु का स्पर्श करता है। दीर्घ **'ई'** भ० का० की स्वर ध्वनियों में **अ, ऊ, ॠ** की तरह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं।

उ, ऊ

उ तथा **ऊ** का प्रयोग भ० का० में **अ** तथा **आ** की अपेक्षा बहुत कम है। ये ओष्ठ्य ध्वनियां हैं तथा अपने उच्चारण के समय ओष्ठों को तंग और गोल बना देते हैं। ये अपना अर्द्धस्वर **व्** रखते हैं। पाणिनि तथा प्रातिशाख्यों[3] के अनुसार इनका आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत हैं।

ऋ, ॠ

ह्रस्वर **ऋ** का प्रयोग भ० का० में प्रत्येक अवस्था में प्रचुर रूप से मिलता है। इसके उच्चारण के विषय में आधुनिक तथा प्राचीन विद्वानों में बहुत मतभेद है। ऋक्०प्रा०, अथर्व प्रा०, वा०प्रा०, तै०प्रा० तथा ऋक् तन्त्र[4] **'ऋ'** का उच्चारण स्थान जिह्वा का मूल भाग मानते हैं। पा० शिक्षा[5] में इसे मूर्धन्य कहा गया है। प्रातिशाख्य तथा शिक्षा[6] **'ऋ'** को **'र्'** का अंश

---

1. अथर्व प्रा० I. 35.
2. तै० प्रा० II. 22.
3. पा० शिक्षा० 35, अथर्व प्रा० I. 32, प्रा० II. 24.
4. ऋक्० प्रा० I. 41, अथर्व प्रा० I. 26, वा० प्रा० I. 65, तै० प्रा० II. 18, ऋक० तं० 4.
5. पा० शिक्षा 11.
6. अथर्व प्रा० I. 37, ऋक्, प्रा० 13-14 आपि० शिक्षा I. 26.

मानते हैं तथा इसे स्वर और व्यंजन का संयुक्त स्वर स्वीकार करते हैं। इसी कारण कुछ वैयाकरण[1] इसे स्वरों की श्रेणी में मानने को तैयार नहीं हैं।

ॠ

म० का० की भाषा में दीर्घ '**ॠ**' का प्रयोग बहुत कम हुआ है। यह संज्ञा शब्दों के बहुवचन के रूपों में केवल 9 बार आया है।

जैसे—पितृ, मातृ, भोक्तृ तथा विष्कन्तृ आदि शब्दों में।

लृ

लृ लौकिक भाषा की अति दुर्लभ ध्वनि है, जबकि वैदिक भाषा में इसका पर्याप्त प्रयोग मिलता है। म० का० में यह केवल 4 बार 'कलृप' धातु के रूपों में मिलती है। यह दन्त्य ध्वनि है। अथर्व प्रा०[2] के अनुसार '**लृ**' में **ल्** का अधिक अंश होने के कारण यह शुद्ध स्वर नहीं है। वा० प्रा०[3] के अनुसार '**लृ**' **ल्** तथा **अ** का मिश्रित रूप है। '**लृ**' का दीर्घ रूप म० का० लौकिक और वैदिक संस्कृत में प्राप्य नहीं है।

ए, ओ, ऐ, औ

म० का० में **ए, ओ, ऐ, औ**, की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हैं : इनका आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है, लेकिन ऋक् प्रा० तथा अथर्व प्रा०[4] **ए, ओ** को अधिक विवृत मानते हैं। पाणिनि[5] के अनुसार **ए, ऐ**' कण्ठ, तालव्य ध्वनियां हैं। तथा '**ओ, औ**' कण्ठोष्ठ्य ध्वनियां हैं। ऋक् प्रा०[6] **ए, ऐ** को तालव्य तथा **ओ, औ,** को कण्ठ्य ध्वनियां मानता है। पाणिनि इन **सन्ध्यक्षरों** के ह्रस्व सन्ध्यक्षरों को नहीं मानता।

कवर्ग

अन्य चार कण्ठ्य ध्वनियों की अपेक्षा भट्टिकाव्य में '**क्**' अधिक

---

1. कैयट—महाभाष्य, I. 1.4 पर तथा पाणिनि के I. 1.9 सूत्र पर।
2. अथर्व प्रा० I. 39.
3. वा० प्रा० 4.48.
4. ऋक्० प्रा० I. 42, अथर्व प्रा० I. 34.
5. पा० शिक्षा, XII. XIII.
6. ऋक् प्रा० I. 42, 47.

प्रयुक्त है। ग् तथा ङ् की अपेक्षा ख् तथा घ् का प्रयोग भ० का० में अत्यल्प है। भ० का० में बहुत बड़ी संख्या में शब्दों के अन्त में ङ् का प्रयोग मिलता है।

पाणिनि के अनुसार कवर्गीय ध्वनियों का उच्चारण स्थान कण्ठ है।[1] प्रातिशाख्यों के अनुसार कवर्गीय वर्णों का उच्चारण जिह्वा के मूल का हनु मूल से सम्पर्क होने पर होता है, उनके अनुसार इनका उच्चारण स्थान जिह्वा मूल है।[2]

तैत्तिरीय प्रा० इस वर्ग का उत्पत्ति स्थान हनुमूल को मानता है। तथा जिह्वामूल को साधन मानता है।[3] अनेक पाश्चात्य ध्वनि-विचारक भी प्रातिशाख्यों के इस मत से सहमत हैं कि इस वर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है।[4]

चवर्ग

च् तथा ज् भ० का० की बहुत सामान्य ध्वनियां हैं। च् तथा ज् की अपेक्षा छ् का प्रयोग भ० का० में 10 गुणा कम है। ज् का प्रयोग छ् की अपेक्षा अधिक है तथा यह इसी वर्ग की ध्वनियों से पहले या बाद में अधिक प्रयुक्त होती है।

झ्

भ० का० की दुर्लभ ध्वनि है। यह पूरे काव्य में केवल पांच बार प्रयुक्त हुई है। वैदिक भाषा में भी इस ध्वनि का प्रयोग बहुत कम है। ऋग्वेद में केवल एक बार मिलती है, अथर्ववेद में इसका प्रयोग बिल्कुल नहीं मिलता।[5]

प्रातिशाख्यों तथा पाणिनि के अनुसार चवर्गीय ध्वनियां तालव्य हैं

---

1. पा० शिक्षा० 22, सिद्धान्त कौमुदी, 10.
2. अथर्व पा० I. 20, ऋ० प्रा० 1.8.40 तथा वा० प्रा० I 65.83.
3. तै० प्रा० 2.35.
4. Sweet's Primer 71, Pikes Phonotics pp. 120F; W.S. Allen's Phonetics in Ancient India, p. 51.
5. पृ० 42.

तथा जिह्वा के मध्य भाग के तालु से स्पर्श होने पर इनका उच्चारण होता है ।[1]

टवर्ग

टवर्ग में ण् भ० का० की बहुत अधिक प्रयुक्त होने वाली ध्वनि है । यह अन्य चारों वर्णों को मिलाकर भी उनसे अधिक प्रयुक्त होती है । ट्, ड, द का प्रयोग सामान्य है पर ठ् बहुत ही कम शब्दों में प्रयुक्त होता है । ये ध्वनियां शब्द के प्रारम्भ तथा अन्त में बहुत ही कम मिलती हैं । यथा—

ढक्का	—भ० का० XIII. 45, XIII. 3
डुढौकिरे	—भ० का० XI. 71
अपिनट्	—भ० का० X. 11-66
अतृनट्	—भ० का० X. II. 15

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ये ध्वनियां व्यंजनों की दुर्लभ ध्वनियां हैं । लेकिन भ० का० में इनका प्रयोग अन्य ध्वनियों के बराबर है ।

पा० के अनुसार ये ध्वनियां मूर्धन्य हैं जिनकी उत्पत्ति मूर्धा से होती है ।[2] प्रातिशाख्यों के अनुसार टवर्ग ध्वनियों के उच्चारण के समय जिह्वा के अग्र भाग का मुड़कर स्पर्श मूर्धा से होता है ।[3] आपिशली शिक्षा के अनुसार जिह्वा के अग्र भाग से मूर्धा का स्पर्श नहीं होता अपितु अग्र भाग से अगले हिस्से या अग्रभाग के निचले हिस्से से स्पर्श होता है ।[4]

तवर्ग ध्वनियां

भट्टि काव्य में तवर्ग ध्वनियों का प्रयोग अन्य चारों ध्वनियों के सम्मिलित प्रयोग के बराबर हुआ है । तवर्ग में भी न् ध्वनि भ० का० की बहुत सामान्य ध्वनि है । थ् तथा ध् की अपेक्षा त् तथा द् का प्रयोग अधिक हुआ है । कुछ प्रातिशाख्यों, शिक्षा तथा वैयाकरणों के अनुसार तवर्ग का

---

1. सिद्धान्त कौमुदी, 10, ऋक् प्रा० I. 42, अथर्व प्रा० I. 21, वा० प्रा० I. 66, तै० प्रा० II. 36.
2. पा० शिक्षा 17, सिद्धान्त कौमुदी, पृ० 17.
3. ऋ० प्रा० I. 43, अथर्व प्रा० I. 22, वा० प्रा० I. 78, तै० प्रा० II. 37.
4. आपिशली शिक्षा, II. 6-7.

उच्चारण जिह्वा के अग्र भाग का दाँतों से स्पर्श होने पर होता है।[1] परन्तु ऋक् प्रा० तथा तै० प्रा० के अनुसार जिह्वा का अग्रभाग दाँतों के मूल भाग का स्पर्श करता है तब तवर्ग का उच्चारण होता है, इसलिए इन वर्णों का उच्चारण स्थान दन्तमूल तथा जिह्वा का अग्र भाग है।[2]

पवर्ग ध्वनियां

भ० का० में 'ब्' की अपेक्षा **प्** तथा **भ्** का अधिक प्रयोग है। **फ्** का अपेक्षाकृत कम प्रयोग है। **म्** का प्रयोग अन्य चारों वर्गों की अनुनासिक ध्वनियों के बराबर ही है।

भारतीय विद्वानों के मतानुसार चवर्ग ध्वनियों का उच्चारण ओष्ठ से होता है तथा उनका उच्चारण स्थान भी ओष्ठ है। केवल अथर्व प्रा० तथा तै० प्रा० के भाष्यकारों के अनुसार पवर्ग का उच्चारण स्थान उपरि ओष्ठ है तथा उच्चारण निचले ओष्ठ से होता है।[3]

अर्द्ध स्वर

य् की अपेक्षा **व्** भ० का० की अधिक प्रयोग में आने वाली ध्वनि है। सामान्यतया **य्** तालव्य ध्वनि है।[4] तै० प्रा० के मतानुसार **य्** का उच्चारण जिह्वा के मध्य भाग का तालु से स्पर्श होने पर होता है।[5]

व् के उच्चारण के विषय में अनेक विचार व्यक्त किए गए हैं। पाणिनि के अनुसार '**व्**' का उत्पत्ति स्थान दन्तोष्ठ है।[6]

ऋक् प्रा० तथा वा० प्रा० इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ मानते हैं।[7] तै० प्रा० के अनुसार ओष्ठान्तों तथा दांतों से **व्** का उच्चारण होता है।[8]

---

1. ऋ० प्रा० I. 24, वा० प्रा० I. 76, I. 69 ऋ० तन्त्र 7, पा० शिक्षा 17, सिद्धान्त कौमुदी, पृ० 17.
2. ऋ० प्रा० I. 44, तै० प्रा० II. 38.
3. ऋ० प्रा० I. 47, वा० प्रा० I. 70, पा० शिक्षा 17, सि०कौ० पृ० 17, अथर्व प्रा० I. 25, वा० प्रा० I. 80, तै० प्रा० II. 39.
4. पा० शिक्षा 17.
5. तै० प्रा० II. 40.
6. पा० शिक्षा 18, आपिशली शिक्षा I. 16-17, सि० कौ० 17.
7. ऋ० प्रा० I. 47, वा० प्रा० पृ० 70.
8. तै० प्र० II. 43.

बुगमैनन ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० की तरह ही व् को ओष्ठ्य मानता है। सिद्धेश्वर वर्मा अपने निबन्ध में बुगमैन के विचार की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उसने जो विचार दिए हैं वे तो हजारों साल पहले भारतीय वैयाकरणों ने निर्धारित किए थे।[1]

र्, ल्

र् की अपेक्षा ल् म० का० में दुर्लभ ध्वनि है। र् का प्रयोग ल् की अपेक्षा 7 गुना अधिक हुआ है। पाणिनि के अनुसार 'र्' मूर्धन्य ध्वनि तथा ल् दन्त्य ध्वनि है।[2] लेकिन दोनों ध्वनियों के उच्चारण स्थान के विषय में बहुत मतभेद है। कोई भी प्रातिशाख्य 'र्' को मूर्धन्य ध्वनि नहीं मानता तथा न ही उनके विचारों में साम्य दिखाई देता है। प्रातिशाख्यों के अनुसार इसके उच्चारण में साधन दांत तथा दन्तमूल है। ऋक्तन्त्र इसे दन्त्य या दन्तमूलक मानता है। वा० प्रा० जिह्वा के अग्रभाग को उच्चारण में सहायक मानता है तथा तै० प्रा० के अनुसार जिह्वा के अग्रभाग के मध्य से दन्तमूल का स्पर्श होने पर 'र्' का उच्चारण होता है।[3]

पा० शिक्षा०, वा० प्रा० तथा अन्य वैयाकरणों के अनुसार ल् दन्त्य ध्वनि है, परन्तु ऋ० प्रा० अथर्व प्रा० तथा तै० प्रा० के अनुसार ल् का स्थान दन्तमूल है।[4]

---

1. Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians, London 1929, p. 129.
   "In this connection the remark of Brumann that the Sanskrit V become labio-dental in the historical period required modification. For at least a thousand years before Brugnann, Indian Grammarians had observed, and correctly, that the Sanskrit V in the Medial and final positions was not a labio-dental.
2. पा० शिक्षा 17, सिद्धान्त कौ, पृ० 17.
3. ऋ० तन्त्र 8, वा० प्रा० I.68, ऋ० प्रा० I. 46, अथर्व प्रा० I. 28, तै०प्रा० II. 41.
4. पा० शिक्षा 17, वा० प्रा० I. 69, ऋ०प्रा० I. 45, अथर्व प्रा० I. 24, तै० प्रा० II. 42.

ऊष्म वर्ण

अन्य दो ऊष्म श् और ष् की अपेक्षा स् भट्टि काव्य में अधिक प्रयुक्त होने वाली ध्वनि है। अन्य सभी व्यंजनों की अपेक्षा भी भ० का० की भाषा में इसका अधिक प्रयोग है।

ष् की अपेक्षा श् का प्रयोग भ० का० में अधिक है। सभी भारतीय विद्वानों के अनुसार 'स्' दन्त्य ध्वनि है। लेकिन ऋ० प्रा० के अनुसार इसका उच्चारण स्थान दन्तमूल है।[1]

प्रातिशाख्यों, शिक्षा-ग्रन्थों तथा पाणिनि के अनुसार श् का उच्चारण स्थान घातु है। अतः यह तालव्य ध्वनि है।[2]

ष् का उच्चारण स्थान मूर्धा है। अथर्व प्रा० के अनुसार षकार के उच्चारण के समय जिह्वा मुड़कर, द्रोणिका के आकार की बन जाती है। अतः षकार का करण जिह्वा है।[3]

ह्

भ० का० की ह् ध्वनि कण्ठ्य है। ऋ० प्रा० के अनुसार ह् का उच्चारण स्थान उरस् है। तै०प्रा० के अनुसार हकार का वही स्थान मानते हैं जो उसके परवर्ती स्वर के प्रारम्भिक भाग का है।[4]

विसर्जनीय भी कण्ठ्य ध्वनि है। लेकिन ऋ० प्रा० तथा ऋक्तन्त्र के अनुसार यह उरस् ध्वनि है। हकार की तरह ही इसका उच्चारण स्थान वही है जो उसके परवर्त्ती स्वर के प्रारम्भिक भाग का होता है।[5]

---

1. पा० शिक्षा 17, सिद्धान्त कौमुदी पृ० 17, यास्क शिक्षा 212, ऋ० प्रा० I. 9-10, अथर्व० प्रा० I. 24, तै० प्रा० II. 38, 42.44, वा० प्रा० I. 69, ऋ० प्रा० I 45.
2. ऋ० प्रा० I.42, अथर्व० प्रा० I.21, वा० प्रा० I.66, तै० प्रा० 2.36, प्रा० शिक्षा 17, सिद्धान्त कौ०, पृ० 17.
3. ऋ० प्रा० I 43, वा० प्रा० I.67, पा० शिक्षा 17, सि० कौ०, पृ० 17, अथर्व० प्रा० I.23.
4. पा० शिक्षा 17, सि० कौ० 17, अथर्व० प्रा० I.19, वा० प्रा० I.71, तै० प्रा० II 47, ऋ० प्रा० I.40, तै० प्रा० II.46.
5. ऋ० प्रा० I.39, तै० प्रा० II.46, वा० प्रा० I.71, ऋ० प्रा० I. 40, ऋ० तं० 3, तै० प्रा० II. 48.

जिह्वामूलीय ध्वनि

भ०का० में जिह्वामूलीय ध्वनि का केवल एक ही प्रयोग मिलता है।

वानरा:⌣कुलशैलाभ: —भ०का० IX.59

इस ध्वनि को जिह्वामूलीय ध्वनि माना जाता है। जो जिह्वा के मूल भाग से उच्चरित होती है। अथर्व प्रा० के अनुसार इसका उच्चारण ऊपरी जबड़े के मूल भाग से होता है।[1]

उपध्मानीय

इस ध्वनि का भी भ० का० में केवल एक प्रयोग मिलता है। यथा—

कुलशैलाभ:⌣प्रसह्यायुधशीकरम् —भ० का० IX.59

इस ध्वनि का उच्चारण स्थान ओष्ठ है। इसका उच्चारण पूर्व स्वर के समान होता है। ध्वनि का स्थान वही है जो इसके पूर्ववर्त्ती स्वर का होता है।[2]

अनुस्वार

भ०का० में इस ध्वनि का प्रयोग व्यंजन से पहले म् को अनुस्वार में परिवर्तित करके मिलता है। पा० तथा अथर्व प्रा० के अनुसार यह नासिक्य ध्वनि है तथा नासिका से उच्चरित होती है।[3]

अनुनासिक

भ० का० में अनुनासिक ध्वनि का प्रयोग केवल तीन बार मिलता है। इसका उच्चारण नासिका और मुँह से होता है।[4]

ऋ० प्रा०, वा० प्रा०, तै० प्रा०, सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार अनुस्वार तथा अनुनासिक अलग-अलग ध्वनियाँ हैं, जबकि ह्विटने[5] के अनुसार इनमें कोई भेद नहीं है।

मैक्डानल[5] प्राचीन वैयाकरणों के मत को स्वीकार करता है।

———

1. सि०कौ० I.1.9 पर, तै० प्रा० I.18, ऋ० प्रा० I.41, अथर्व प्रा० I.20.
2. पा० शिक्षा 17, सि० कौ० I.1.9.
3. पाणिनि, 8.3.23, अथर्व प्रा० I.26.
4. अष्टाध्यायी, I 1.8.
5. Skt. Gr. p. 25.
6. Ved. Gr. Stn. p. 17.

अध्याय तृतीय

सन्धि

सन्धि

भट्टि ने अपने काव्य को काव्य की दृष्टि से न लिखकर प्रधानतः व्याकरण के नियमों का वर्णन करते हुए व्याकरणिक भाषा में लिखा है। भट्टि अपने काव्य में सूत्रों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता है। प्रत्युदाहरणों का प्रयोग अत्यल्प है। यही शैली भट्टि ने सन्धि के नियमों के उदाहरण देते हुए अपनाई है। भट्टि ने स्वर-सन्धि में पाणिनीय व्याकरण के सूत्र क्रम से उदाहरण नहीं दिए हैं। व्यंजन सन्धि में णत्व सन्धि के उदाहरण पाणिनीय क्रम से दिए गए हैं। विसर्ग सन्धि में पाणिनीय सूत्र-क्रम से ही उदाहरण दिए हैं। भट्टि के सन्धि उदाहरणों में कुछ जगह पाणिनीय नियमों के अपवाद भी मिलते हैं। जिनका उल्लेख यथास्थान किया गया है। विसर्ग सन्धि का वर्णन भ० का० में नवें सर्ग के 58-66वें श्लोक तक है। जिसमें पाणिनीय सूत्र-क्रम से उदाहरण दिए गए हैं तथा णत्व सन्धि के उदाहरण 9 वें सर्ग के 92 वें श्लोक से 109 श्लोक तक दिए गए हैं। पाणिनीय सूत्रों में जो सूत्र वैदिक-सन्धि के लिए दिए गए हैं उसी क्रम को भट्टि ने नहीं अपनाया अपितु अग्रिम क्रमानुसार उदाहरण दिए हैं। एक स्थान पर णत्व-सन्धि में प्रत्युदाहरण का भी प्रयोग है।

स्वर-सन्धि

सामान्य रूप से दो स्वरों के सानिध्य को स्वर-सन्धि कहते हैं। विशेष—भ० का० में **इ, ई** से परे **औ, ऐ, लृ** तथा दीर्घ **उ, ऊ** से परे **ई, ऐ, ओ, औ, ऋ**, ॠ तथा **लृ** होने पर सन्धि का उदाहरण नहीं मिलता। इसी प्रकार यण् सन्धि के अन्तर्गत पद के अन्त में **ऋ** तथा **लृ** का भी कोई प्रयोग नहीं मिलता। भ० का० में अयादि सन्धि के अन्तर्गत **औ** के अनन्तर दीर्घ **ई, ऊ, ए, ओ, ऋ** तथा **लृ** की सन्धि नहीं मिलती है। एक स्थान पर **आ** परे होने पर भी प्रथम पद के अन्तिम **औ** में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

अन्यत्र **ए** भी **इ** परे होने पर परिवर्तित नहीं हुआ है। भ० का० में **ऐ, ओ ए** का भी कोई सन्धि प्रयोग नहीं मिला है।

भ० का० में गुण-सन्धि में **अ, आ** से परे **ई, ऋ** तथा **लृ** भी नहीं मिलते हैं। भ० का० में सवर्ण दीर्घ सन्धि में **ई, ऊ, ऋ, लृ** से परे समान स्वर न होने के कारण इन वर्णों की सन्धि नहीं हुई है।

यण-सन्धि

ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ, लृ के अनन्तर कोई असवर्ण स्वर आए तो इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर य्, व्, र्, ल् आदेश हो जाते हैं।[1]

इ को **य्**

शेषाण्यहौषीत् —शेषाणि+अहोषीत् भ० का० I.12
रूदित्वत्यसौ —रूदितवति+असौ भ० का० XX.20

इन दोनों उदाहरणों में **इ** से परे **अ** होने के कारण **ई** को **य्** हुआ है।

ताम्रोत्पलान्याकुल —ताम्रोत्पलानि+आकुल भ०का० II.2

यहाँ **इ** से परे **आ** होने पर **इ** को **य्** हुआ है।

शक्त्यृष्टि —शक्ति+ऋष्टि, भ० का० IX.4

यहाँ **इ** से परे **ऋ** होने पर **इ** को **य्** हुआ है।

उपेह्युर्ध्वम् —उपेहि+ऊर्ध्वम् भ० का० XX.16
इत्युदाहृतः —इति+उदाहृतः भ० का० I.1

यहाँ **इ** से परे **उ, ऊ** होने पर **इ** को **य्** हुआ है।

योगिनामाप्येष —योगिनामपि+एष भ० का० 7.10

यहाँ **इ** से परे **ए** होने के कारण **इ** को **य्** आदेश हुआ है।

ह्रस्व **उ, ऐ, इ, आ** तथा **अ** परे होने पर **'व्'** आदेश हो जाता है। पदान्तीय दीर्घ **ऊ** का कोई प्रयोग भ० का० में उपलब्ध नहीं है।

कादान्वेते —कदानु+ऐते भ०का० 7.12
अध्वरेष्विष्टिनाम् —अध्वरेषु+इष्टिनाम् भ० का० 5.79

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.77.

वनेष्वानम् —वनेषु+आनम् भ० का० 4.11
तेष्वसौ —तेषु+असौ भ० का० 4.11

इन सभी उदाहरणों में क्रमशः उ से परे ए, उ से परे इ, उ से परे आ तथा अ होने पर उ को व् आदेश हुआ है।

विशेष

पदान्तीय उ के साथ ई, ऐ, औ, ऋ, ॠ तथा ऌ की सन्धि भ०का० में नहीं मिलती। पदान्तीय ऋ तथा ऌ भी असवर्ण स्वर से पहले नहीं मिलते। काशिका सिद्धान्त कौमुदी में इन स्वरों की सन्धि मिलती है। यथा—कर्त्रर्थम्। हर्त्रर्थम्। लाकृतिः।[1] भ० का० तक ये प्रयोग लुप्त हो गए।

अयादि सन्धि

भ० का० में ए, ओ, ऐ, औ के अनन्तर कोई भी स्वर हो तो (एव्) के स्थान पर क्रमशः "अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते हैं।[2] निर्दिष्ट स्वरों में से भ० का० में केवल औ ही 'अ', आ, इ, उ, ऐ तथा औ परे होने पर 'अव्' में परिवर्तित होता है। काशिका में सभी स्वरों के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

बालिनावमून् —बलिनौ+अमून् भ० का० 6.93
तावासनादि —तौ+आसनादि भ० का० II. 26

यहां प्रथम उदाहरण में 'औ' से परे ऊ होने के कारण तथा 'औ' को आव् आदेश हुआ है।

सारोऽसाविन्द्रियाऽर्थानाम्—सारोऽसौ+इन्द्रियाऽर्थानाम्—
भ० का० 5.20

रात्रावैक्षत —रात्रौ+ऐक्षत भ० का० IX. 83
तावोजिहताम् —तौ+ओजिहताम् भ० का० II. 41

यहां औ से परे इ, औ से परे ऐ' तथा औ से परे ओ होने के कारण औ को आव् हुआ है। काशिका में सभी स्वरों के उदाहरण मिलते

1. काशिका, 5.1. 77.
2. अष्टाध्यायी, 6.1.78.

हैं ।[1] यथा—चयनम् । लवनम् । चायकः । लावकः । कयेते । व्ययेते । यावबरुणद्धि ।

विशेष

भ० का० में दो स्थानों पर पदान्तीय **औ** तथा **ए** से परे क्रमशः **आ** एवं **इ** होते हुए भी सन्धि नहीं हुई । जबकि पाणिनि के अनुसार इन स्थानों पर क्रमशः **आव्** एवं **अय्** हो जाना चाहिए था । यथा—

रघुव्याघ्रौ आख्यच्चैनम्—भ० का० 15.39
कल्पान्त इव —भ० का० IX. 53

गुण सन्धि

व्याकरण के सामान्य नियमों के अनुसार **अ** या **आ** के अनन्तर ह्रस्व या दीर्घ **इ, उ, ऋ, लृ** आए तो दोनों के स्थान पर क्रमशः **ए, ओ, अर्, अल्** आदेश हो जाते हैं ।[2]

अ और **आ** को **इ** परे होने पर भ० का० मे **ए** हुआ है । परन्तु **अ, आ** से परे दीर्घ **ई** का प्रयोग नहीं मिलता ।

सर्वेषुभृताम् —सर्व+इषुभृताम्—भ० का० I. 3
सीमेव —सीमा+इव—भ० का० I. 6

यहां सर्व के **अ** से परे **इ** होने पर **ए** तथा सीमा के **आ** से परे **इ** होने पर **ए** आदेश हुआ है । भ० का० में **अ** और **आ** से परे **ऋ** को **अर्** होता है ।

सर्वर्तु —सर्व+ऋतु—भ० का० I.5
ब्रह्मर्षि —ब्रह्मा+ऋषि—भ० का० XII.57

दीर्घ ऋ तथा **लृ, अ, आ** से परे भ० का० में नहीं मिलते । भ० का० में **आ+इ** का एक ही प्रयोग उपलब्ध है ।

विशेष

गुण सन्धि का अपवाद स्वरूप एक प्रयोग ही भ० का० में मिलता है जहाँ गुण सन्धि न होकर वृद्धि सन्धि हुई है । यथा—

आर्च्छन् —आ+अच्छन् भ० का० 17.10

---

1. काशिका, 6.1.78.
2. अष्टाध्यायी, 6.1 87.

यदि अकारान्त उपसर्ग के बाद ऐसी धातु आए जिसके आदि में ह्रस्व ऋ हो तो 'अ' और ऋ के स्थान पर अर् हो जाता है। 'उपसर्गादृति धातौ' पा० सू० 6.1 91.

वृद्धि सन्धि

अ अथवा **आ** से परे **ए** या **ऐ** हो तो दोनों के स्थान पर **ऐ**, **औ** वा **ओ** परे होने पर '**औ**' हो जाता है।[1]

प्रेष्यम् —प्र+एष्यम्—भ० का० 7.108
विद्यामथैनम् —विद्यामथ+एनम्—भ० का० II.21
मिथ्यैव —मिथ्या+एव—भ० का० 5.71

यहाँ प्रथम एवं द्वितीय उदाहरणों में क्रमशः **प्र** के **अ** से **ए** तथा अथ के **अ** से **ए** परे होने पर **ऐ**' हुआ है। तथा तृतीय उदाहरण में मिथ्या के **आ** से परे **ए** होने पर '**ऐ**' हुआ है।

बलौघान् —बल+औघान्—भ० का० III.47
यस्योपजानुकौ —यस्य+औपजानुकौ—भ० का० 4.25

दोनों उदाहरणों में **अ** से परे **औ** होने पर दोनों का औ हो गया है।

अ के साथ **ए**, **औ** तथा **औ** की और **आ** के साथ **औ** की सन्धि ही भ० का० में मिलती है।

सवर्ण दीर्घ सन्धि

पाणिनि के अनुसार ह्रस्व या दीर्घ **अ**, **इ**, **उ**, **ऋ**, **लृ** से परे यदि इनके समान ही स्वर आ जाएँ तो दोनों के स्थान पर सवर्ण दीर्घ स्वर आदेश हो जाता है।[2]

सहाऽऽसनम् —सह+आसनम्—भ० का० I.3
गोत्रभिदाऽध्यवात्सीत्—गोत्रभिदा+अध्यवात्सीत्—भ० का० I.3

यहाँ सह के **अ** से परे **आ** होरे पर तथा भिदा के **आ** से परे **अ** होने पर **आ** हुआ है।

शिरांसीव —शिरांसि+इव—भ० का० I.7
तिसृषुत्तमासु —तिसृषु+उत्तमासु—भ० का० I.9

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.88.
2. वही, 6.1.101.

इन दोनों उदाहरणों में 'इ से परे इ' तथा उ से परे उ होने पर क्रमशः ई तथा ऊ हुए हैं।

आ उपसर्ग दो स्वरों के बीच में आने पर प्रथम स्वर के साथ संयुक्त हुआ है।

अवर्ण से ओम् और आङ् परे हैं तो पर रूप एकादेश हो (ओमाङोश्च) 6.1.95 'अन्तादिवच्च' 6.1.85 से यह एकादेश पूर्व के अन्तवत् और पर के आदिवत् हो। जैसे आ+इहि यहाँ गुण एकादेश करने के पूर्व समुदाय 'आ' में आङ् का व्यवहार होता है। यह आङ् व्यवहार एकादेश विशिष्ट 'ए' में भी होगा एवं 'ए' के आङ् होने से (अव+एहि) यहाँ 6.1.95 से पर रूप होकर अवेहि रूप बनेगा।

अवेहि	=अव+आ+इहि—भ०का० XX.31
उपेहि	=उप+आ+इहि—भ० का० XX.16

विशेष

भ० का० में दीर्घ ई, ऊ, ॠ तथा ॡ का कोई सन्धि प्रयोग नहीं है। भ० का० में दो सन्धि प्रयोग ऐसे भी मिलते हैं जहाँ अन्तिम अ को आदि अ से संयुक्त करके अ ही बनाया गया है जो दीर्घ सन्धि का अपवाद है।

कुल+अटा	=कुलटा—भ० का० 5.17
सीम+अन्तिनी	=सीमन्तिनी—भ० का० 5.22

पाणिनि नियमानुसार इन दोनों प्रयोगों में अ+आ को सवर्ण दीर्घ आ बनाना चाहिए था पर ये दोनों ही प्रयोग इस नियम के अपवाद हैं।

पूर्वरूप सन्धि

पद के अन्त में आने वाले ए और ओ के पश्चात् यदि अ हो तो उस 'अ' को पूर्वरूप हो जाता है तथा उसके स्थान पर अवग्रह चिह्न का प्रयोग किया जाता है।[1]

लोकेऽधिगतासु	=लोके+अधिगतासु—भ० का० I.9

तैतिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार ए और ओ अपरिवर्तित रहते हैं तथा आदि स्वर अ का लोप हो जाता है।[2]

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.109.
2. तै० प्रा० II.1.

विशेष

गवाक्षः गो+अक्षः—भ० का० 15.45

यह शब्द पाणिनि नियमानुसार गोऽक्षः होना चाहिए पर यहाँ **स्फोटायन** का मत ग्रहण किया गया है जिसके अनुसार पदान्त **गो** को अच् **परे** होने पर विकल्प से अवङ् आदेश होता है।[1]

व्यंजन सन्धि

पाणिनि के अनुसार जब दो व्यंजन अत्यन्त समीप होते हैं अथवा पहला वर्ण व्यंजन होता है और दूसरा स्वर तो उनमें जो परिवर्तन होते हैं उन्हें व्यंजन सन्धि कहते हैं। भ० का० में अनेक स्थलों पर पाणिनि के इस सामान्य नियम के अपवाद मिलते हैं। भ० का० में अन्त्य **न्** तथा आदि **श्** की तीन स्थितियाँ दिखाई गई हैं। प्रायः **न्** और **श्** में कोई परिवर्तन नहीं होता। कुछ स्थानों पर **श्** से पहले **न्** **ज्** बन जाता है। एक स्थान पर दोनों को **ज्** और **छ्** आदेश हो जाते हैं।

अन्त्य **न्** की आदि **ल्** के साथ सन्धि होने का भी एक प्रयोग भट्टि काव्य में अपवाद स्वरूप मिलता है। पाणिनीय सूत्र के अनुसार दन्त्य वर्ण **ल्** परे होने पर **ल्** में परिवर्तित हो जाता है तथा दन्त्य **न्** नासिक्य ल् बन जाता है।[2] एक स्थान पर भ० का० में **ल्** से पहले **न्** में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इन सभी का विवेचन आगे किया जा रहा है।

स् और तवर्ग के साथ **श्** और चवर्ग में से कोई वर्ण हो तो **स्** और तवर्ग के स्थान पर **श्** और चवर्ग हो जाते हैं।[3]

त्+श् का कोई उदाहरण भ० का० में नहीं मिलता।

स्+च्—आमिश्राश्चातकैः—आमिश्रास्+चातकैः—भ० का० 7.7

स्+छ्—ससैन्यश्छादयन्—ससैन्यस्+छादयन्—भ० का० IX.58

यहाँ **स्** से परे **च्** तथा छ् होने के कारण **स्** को **श्** आदेश हुआ है।

त्+श्—तच्छिवम्—तत्+शिवम् भ० का० I.18

यहां तवर्ग **त्** से परे **श्** होने के कारण तत् के **त्** को चवर्ग—**च्**

1. अष्टाध्यायी, 6 1.123.
2. वही, 8.4.60.
3. वही, 8 4 40.

बना। तथा पदान्त झय् (वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, तथा चतुर्थ अक्षर) के बाद श् होने के कारण श् को छ् बन गया है।[1] त् यहाँ वर्ग का प्रथम वर्ण है।

त्+च्—प्रातिष्ठिपच्च =प्रातिष्ठिपत्+च—भ० का० 15.1

यहाँ तवर्ग के त् से परे चवर्ग का च् होने के कारण त् को च् हो गया है।

त्+छ्=भुवनहितच्छलेन=भुवनहित+छलेन=भ० का० I.1

यहाँ ह्रस्व स्वर अ से परे छ् होने के कारण बीच में तुक् (त्) का आगम हुआ है। और उस त् को 'स्तो श्चुना श्चुः' 8.4.40 से च् हो गया।

त्+ज्=वेगाज्जलोधरः —वेगात्+जलोधरः—भ०का० XI.39

यहाँ तवर्ग के त् से परे चवर्ग का ज् होने के कारण पदान्त झल त् को जश द् आदेश होकर चवर्ग का ज् स्तो श्चुनश्चुस हुआ।[3]

त्+ञ्—का कोई प्रयोग भ० का० में नहीं मिलता।

त्+झ् का भी प्रयोग भ० का० में नहीं मिलता।

न्+ज् गुणांजनात्=गुणान्+जनात्—भ० का० 8.28

यहाँ तवर्ग न् से परे चवर्ग ज् होने के कारण न् को चवर्ग का अनुनासिक ञ् बन गया।

न्+श्=न्यश्यजशास्त्राणि—न्यश्यन्+शस्त्राणि—भ० का० 7.4.

यहाँ पाणिनि नियमानुसार (8.4.40) के अनुसार न् को ञ् आदेश हो गया है। परन्तु भ० का० में कुछ अन्य प्रयोगों में न् अपरिवर्तित रहता है श् परे होने पर, यथा—

शब्दान् शब्दैस्तु —भ० का० 8.6

त्वरावान् शैलेन्द्र—भ० का० 8.18

पाणिनीय नियमानुसार अन्तिम न् और आदि श् को बीच में त् का आगम विकल्प से हो जाता है।[4] भ० का० में इस प्रकार का कोई रूप नहीं मिलता। केवल एक वैकल्पिक रूप मिलता है।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4 62.
2. वही, 6.1.73.
3. वही, 8.2.49.
4. वही, 8.3.31.

तृप्तांश्छोणितः—तृप्तान्+शोणितः —भ० का० 16.42

इस उदाहरण में त् का आगम न् करके न् को ञ् और श् के छ् हुआ है ।

शब्दान् शब्दैस्तु—भ० का० XIII.6 तथा
त्वरावान् शैलेन्द्र—भ० का० 8.19

भ० का० के इन दोनों उदाहरणों में न् को ञ् तथा श् को छ होना चाहिए था, या इन दोनों के बीच में त् का आगम होना चाहिए। पर भ० का० के इन प्रयोगों को देखकर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस नियम के आधार पर न् और श् को अपरिवर्तित रखा गया है ।

श् के छ् में परिवर्तन के विषय में वैदिक ग्रन्थों में बहुत विषमता मिलती है । वाजसनेयि संहिता में कुछ स्थानों पर श् को छ् आदेश हो जाता है, कुछ स्थानों पर नहीं । तै० प्रा० के अनुसार श् केवल म् को छोड़कर सभी स्पर्श वर्णों के परे होने पर छ् में परिवर्तित हो जाता है ।[1] पौष्करसादि के मतानुसार न् और श् दोनों ही अपरिवर्तित रहते हैं जबकि श् के बाद कोई व्यंजन हो ।[2] पाणिनि के अनुसार श् अनुनासिक वर्णों को छोड़कर अन्य व्यंजन परे होने पर छ् बन जाता है तथा जब इस श् के बाद कोई स्वर या ह्, य्, व्, र् हो ।[3]

पाणिनि के सूत्र पर वार्तिक के अनुसार ल् तथा अनुनासिक वर्ण परे होने पर श्, छ् में वैकल्पिक रूप से परिवर्तन होता है ।[4]

यदि तवर्ग के किसी वर्ण के पश्चात् ल् हो तो तवर्ग के वर्ण को ल् हो जाता है । अनुनासिक न् को ल् परे होने पर उससे पहले स्वर पर अनु-नासिक बन जाता है ।[5]

जगल्लक्ष्मी=जगत्+लक्ष्मी—भ० का० 16.23

यहाँ जगत् के त् से परे ल् होने के कारण त् को ल् बना है ।

---

1. तै० प्रा० 5.34 37.
2. वही, 5.37.
3. अष्टाध्यायी, 8.4.63.
4. वही, 8.4.63—छत्वमिति वक्तव्यम् ।
5. वही, 8.4.60.

कस्मांल्लोकानि = कस्मान् + लोकानि — भ० का० IX 36

अनुनासिक **न्** से **ल्** परे होने के कारण **न्** का **ल्** तथा पहले स्वर के ऊपर अनुनासिक चिह्न बन गया है। इसी तरह के अन्य उदाहरण भ० का० में मिलते हैं।

केशांल्लुलुंच: — भ० का० III.22
तांल्लक्ष्मण: — भ० का० II.31

उपर्युक्त नियमानुसार न् अनुनासिक ल् में अवश्य परिवर्तित होना चाहिए। एक स्थान पर भ० का० में इस नियम का पालन नहीं हुआ है। यहाँ ल् परे होने पर भी न् को अनुनासिक ल् आदेश नहीं हुआ है।

केशान् लुलुञ्च — भ० का० 14.59

काशिका में इस तरह का कोई उदाहरण नहीं मिलता। प्रातिशाख्यों में भी पाणिनीय नियमों का अनुसरण हुआ है। मुद्रित संहिताओं में इस नियम का पालन नहीं हुआ है।[1]

वर्गों के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे वर्ण के पश्चात् ह् हो तो उस ह् के स्थान पर विकल्प से पहले वाले वर्ण के वर्ग का चौथा अक्षर हो जाता है।[2]

भ० का० में तालव्य, ओष्ठ्य तथा मूर्धन्य वर्ग के किसी वर्ण की ह् के साथ सन्धि नहीं मिलती, केवल कण्ठ्य और दन्त्य वर्ण के **क्** और **त्** को ही **ह्** परे रहते परिवर्तन हुआ है यथा—

देवभाग्घवि = देवभाक् + हवि — भ० का० 6.65
इच्छेद्धि = इच्छेत् + हि — भ० का० XI.25

यहाँ प्रथम उदाहरण में देवभाक् शब्द के **क्** से परे **ह्** होने के कारण **ह्** को कवर्ग का चतुर्थ अक्षर बन गया है तथा **क्** को पाणिनि नियम के अनुसार अपने वर्ग का तृतीय वर्ण **ग्** बन गया।[3]

वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण **त्** और **श्**, **ष्**, **स्** बाद में आने पर वर्गों

---

1. ऋ० प्रा० 4.8, वा० प्रा० 4.14, अ० प्रा० II.35, तै० प्रा० 5.25-26.
2. अष्टाध्यायी, 8.4.92.
3. वही, 8.2.49.

के तृतीय, चतुर्थ वर्णों को उसी वर्ग का प्रथम वर्ण हो जाता है ।[1]

तस्मात् कुरु —भ० का० XII.74
सुगन्धि सृक् तस्थौ —भ० का० 5.90
अपिनट् च —भ० का० 17.66

यदि बाद में कुछ भी न हो तो वर्गों के तीसरे और चौथे वर्णों को उसी वर्ग का प्रथम वर्ण विकल्प से हो जाता है ।[2]

कस्मात् —भ० का० II. 33
राज्याद् —भ० का० 7.92

यहाँ प्रथम उदाहरण में परे कुछ न होने पर द् को उसी वर्ग का प्रथम वर्ण त् बन गया है । द्वितीय उदाहरण में विकल्प से 'द्' हुआ है ।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्णों में से कोई श् से पहले हो और उसके बाद कोई स्वर, ह्, य्, ड़, द् में से कोई वर्ण हो तो श् का छ् हो जाता है ।[3]

शक्रजिच्छत्रन् =शक्रजित् शत्रून—भ० का० 17.15
तच्छिवम् =तत्+शिवम्—भ०का० I.18

भ० का० में अन्त्य न् सभी स्वरों से पूर्व आने पर अपरिवर्तित रहता है । यथा—

पितरमुपागत: =पितरम्+उपागत: —भ० का० I 1
षड्वर्गमरमंस्त =षड्वर्गम्+अरमंस्त —भ० का० I.2

यहाँ पितरम् तथा षडवर्गम् का अन्तिम म् इससे परे आने वाले स्वर उ तथा अ के कारण अपरिवर्तित रहा । व्यंजन परे होने पर अन्तिम म् अनुस्वार में बदल जाता है ।[4]

मां महात्मन् —भ० का० I.22

अन्य ग्रन्थों में म् के अनुस्वार बनने के विषय में वैचारिक विषमता

1. अष्टाध्यायी, 8.4.55.
2. वही, 8.4.57.
3. वही, 8.4.83.
4. वही, 8.3.23.

है । ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० के अनुसार पदादि र्, श्, स्, ह् से पूर्व पदान्तीय म् का अनुस्वार बन जाता है ।[1] तै० प्रा० के अनुसार म् का लोप होने पर उपधा का स्वर अनुनासिक नहीं बनता और उसके पश्चात् अनुस्वार का आगम हो जाता है ।[2] अ० प्रा० तथा कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार र्, श्, ष्, स्, ह् के अतिरिक्त य्, व्, ल् से पूर्व भी पदान्तीय मकार का लोप होकर उपधा के स्वर का अनुनासिक बन जाता है ।[3]

संहिता के कुछ उदाहरणों में पदादि व्यंजन से पूर्व ईम् के पदान्तीय म् का लोप हो जाता है ।[4]

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार अनुस्वार का प्रयोग श्, ष्, स्, ह् से पूर्व ही होता था और इनसे पूर्व म् में "कोई परिवर्तन नहीं होता था ।"[5]

लेकिन म० का० में सभी व्यंजनों से पूर्व म् अनुस्वार में परिवर्तित हो जाता है । यथा—

मां महात्मन् —म० का० I.22

अपदान्त पद के मध्य में विद्यमान न् या म् को अनुस्वार हो जाता है, यदि उनके बाद वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह्, में से कोई वर्ण हो तो ।[6]

तेजांसि —म० का० II.12
संवित्तः —म० का० 5.37

यहाँ अपदान्त तेजान् से परे स् होने के कारण न् का अनुस्वार बन गया तथा संवित्तः में सम् के म् को व् परे होने पर अनुस्वार बन गया ।

कृ धातु परे होने पर सम् का म् अनुस्वार और विसर्ग में परिवर्तित हो गया है ।[7] तथा बीच का एक स् लुप्त होकर स् हो जाता है ।

---

1. अष्टाध्यायी, ऋक् प्रा० XIII. 1-2, वो० प्रा० 15.1-3.
2. तै० प्रा० 13, 1-2, 15, 1-3.
3. अ० प्रा० II.32, तै० प्रा० XIII.3, वा० 4.4.5.
4. ऋक् प्रा० 4.83, तै० प्रा० 5.12.
5. वैदिक ग्रामर, पृ० 68.
6. अष्टाध्यायी, 8.3.24.
7. वही, 8.3.5, 8.3 14.

असंस्कृत्रिम् =असम्+कृत्रिम्—भ० का० 4.37

यहाँ सम् के म् को कृ धातु परे होने पर संस् बन गया है। जो अनुस्वार किसी पद या शब्द के अन्त में नहीं है यदि उसके अनन्तर वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, वर्ण और य्, र्, ल्, व् वर्णों में से कोई एक हो तो अनुस्वार को आगे आने वाले वर्ण के वर्ग का पांचवा वर्ण हो जाता है।[1]

आढयम्भविष्णु =आढयम्+भविष्णु—भ० का० III.1
प्रियम्भविष्णु =प्रियम्+भविष्णु—भ० का० III.1

यदि पद के अन्त में अनुस्वार हो और उसके पश्चात् 'यय्' वर्ण हो तो अनुस्वार को विकल्प से पर सवर्ण आदेश हो जाता है।[2]

मेघङ्करम् =मेघम्+करम्—भ० का० 6.105
भयङ्करम् =भयम्+करम्—भ० का० 6.105

किसी पद के अन्त में विद्यमान य्, र्, ल्, व् और वर्गों के सभी वर्णों के बाद अनुनासिक वर्ण होने पर "यर्" के उसी वर्ग का पंचम वर्ण हो जाता है।[3] भ० का० में इस नियम के अधिकतर अनुनासिक रूप उपलब्ध हैं।

यन्न =यत्+न्—भ० का० 18 9
सम्यङ् मूर्धनि =सम्यक्+मूर्धनि—भ० का० 17.95

प्रथम उदाहरण यन्न में यत् में तवर्ग का त् है और उसके बाद अनुनासिक न् है इसलिए तत् के त् को तवर्ग का ही न् हो गया।

द्वितीय उदाहरण "सम्यङ् मूर्धनि" में सम्यक् के कवर्ग वर्ण क् के परे अनुनासिक म् होने के कारण क् को कवर्ग का ही ङ् हो गया है।

अधिकतर रूप भ० का० में क् और त् के ही अनुनासिक से संधि होने के मिलते हैं। तालव्य, मूर्धन्य, ओष्ठ्य, वर्णों के अनुनासिक रूप नहीं मिलते।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.58.
2. वही, 8.4.45.
3. वही, 8.4.45.

ङ्, ण्, न् से पहले या बाद में ह्रस्व स्वर होने पर अनुनासिकों को द्वित्व हो जाता है ।[1]

अजरन्नन्ये	अजरन्+अन्ये —भ० का० 15.50
प्रारूदन्नुच्चैः	प्रारूदनघ+उच्चैः—भ० का० 17.71

यहां अजरन् के न् से पहले तथा बाद में स्वर होने के कारण न् का द्वित्व हुआ है । इसी तरह प्रारूदन् के न् को भी स्वर पूर्व और पर होने का रणद्वित्व हुआ है ।

पदादि श्, च्, छ्, ज् से पूर्व आने वाले वाले पदान्तीय न् का ज् बनता है और पदादि श का छ् हो जाता है ।[2]

तृप्तांछोणितः	तृप्तान्+शोणितः —भ० का० 16.42
गुणांजनात्	गुणान्+जनात्—भ०का० 8.28

तृप्तान् शोणितः में पदादि श् से पूर्व न् का ज् हुआ है तथा श् का छ् बन गया है इसी तरह गुणान् जनात् में ज् से पूर्व न् को ज् हुआ है । न् के बाद च् या छ् भ० का० में नहीं मिलते हैं ।

अम्परक "छव्" परे होने पर नान्त पद के स्थान में रु आदेश होता है प्रशान् शब्द को छोड़कर ।[3]

खर् प्रत्याहार परे होने पर रु के विसर्ग के स्थान में सकार आदेश होता है ।[4]

वेदांगस्त्रिदशानप्रष्ट	वेदान्+त्रिदशानयष्ट—भ० का० I.2
कर्तुंश्च	कर्तुन्+च—भ० का० I.19
न्यवधीदरींश्च	न्यवधीत् अरीन्+च—भ० का० I.2

प्रथम उदाहरण में वेदान् के न् से परे छव् का त् होने के कारण न् को रु आदेश हुआ । परे "खर्" का त् होने के कारण र् को विसर्ग आदेश हुआ ।[5]

---

1. अष्टाध्यायी, 8.3.32.
2. वही, 8.4.40.
3. वही, 8.3.7.
4. वही, 8.3.34.
5. वही, 8.3.15.

विसर्ग के बाद खर् होने के कारण विसर्ग को स् हो गया है। "स्तो श्चुना श्चुः" से श्चुत्व की प्राप्ति होकर यह रूप बना।[1] इसी तरह अन्य दोनों प्रयोग भी बने हैं।

भ० का० में न् से परे छ्, द्, ठ् तथा च् के बीच स् आगम के कोई प्रयोग नहीं मिलते। जब छ् से पहले कोई ह्रस्व स्वर आता है तो उन दोनों के बीच में त् का आगम हो जाता है।[2] पर यदि पूर्व स्वर दीर्घ हो तो त् आगम विकल्प से होता है, परन्तु जब आ और मा के बाद छ् आए तो त् आगम अवश्य होता है।[3]

शोकच्छदौ	शोक+छिदौ—भ० का० 7.27
आच्छादयन्	आ+छादयन्—भ० का० 17.3

यहाँ छिदौ के छ् से पहले शोक के क् में ह्रस्व स्वर होने के कारण बीच में त् का आगम हुआ है तथा "स्तो श्चुना श्चुः" से त् को च् आदेश हुआ है दूसरे प्रयोग में छादयन् से पहले आ दीर्घ स्वर होने के कारण त् का आगम हुआ है।

यदि एक ही पद में र, ष्, अथवा ऋ, ॠ के पश्चात् न् हो तो न् को ण् हो जाता है। र्, ष्, ऋ, ॠ तथा न् के बीच में यदि कोई स्वर अन्तस्थ वर्ण ह्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम्, आते हों तो भी न् को ण् हो जाता है। पद के अन्त में न् को ण् नहीं होता।

आदरेण	—भ० का० II.5
रूपेण	—भ० का० II.41
पितृणाम्	—भ० का० 6.64
मानुषाणाम्	—भ० का० 6.94

यहाँ प्रथम पद में र् के बाद न् होने से द्वितीय र् के बाद पवर्ग तथा स्वर का व्यवसधान होने पर भी, तृतीय पद में ऋ के बाद न् होने से तथा चतुर्थ में ष् के बाद न् होने से न् को ण् हुआ है। इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, औ, ह्,

1. अष्टाध्यायी, 8.4.10.
2. वही, 6.1.73-76.
3. वही, 8.4.1-2, 37.

य्, र्, ल्, व् तथा कवर्ग के बाद आने वाले स् को ष् हो जाता है। नुम् विसर्ग, शर् के बीच में आ जाने पर भी इण् के पश्चात् स् को ष् हो जाता है।[1]

पत्नीषु —भ० का० I.9
तिसृषू —भ० का० I.9

णत्व सन्धि

भ० का० में रेफ और षकार से परे नकार को णकारादेश होता है यदि निमित्त और निमित्ति एक पदस्थ हो।[2]

मुष्णन्तन् —भ० का० IX.92
विस्तीर्णोरः स्थलम् —भ० का० IX.92

यहाँ प्रथम पद में षकार के कारण तथा द्वितीय में रकार के कारण नकार को णकार आदेश हुआ है। भ० का० में संज्ञा विषय में अग्रे से परे वन के नकार को णकार आदेश होता है।[3]

अग्रेवणम् —भ० का० IX.92

भ० का० में संज्ञा विषय में गकार भिन्न निमित्त से परे नकार को णकार आदेश होता है।[4]

खरणसादयः —भ० का० IX.93

भ० का० में संज्ञा या असंज्ञा विषय में निर् और आम्र से परे वन शब्द के नकार को णकारादेश होता है।[5]

आम्रवणादिमः —भ० का० IX.94
निर्वणम् —भ० का० IX.94

भ० का० में निमित्तवान अदन्त से जो पूर्वपद उससे परे अंग के नकार को णकारादेश होता है।[6]

---

1. अष्टाध्यायी, 8.3, 55, 57, 58, 59.
2. वही, 8.4.1.
3. वही, 8.4.4.
4. वही, 8 4.3.
5. वही, 8.4.5.
6. वही, 8.4.7

पूर्वाह्ग — भ० का० IX.95

भ० का० में आहितवाची निमित्तवान पूर्वपद से परे वाहन शब्द के नकार को णकारादेश होता है।[1]

रोषवाहणम् —भ० का० IX.95

भ० का० में पूर्वपदस्य निमित्त से परे, प्रातिपदिकान्त, नुम् और विभक्तिस्य नकार को णकारादेश विकल्प से होता है।[2]

रूधिरपायिणाम् —भ० का० IX.95

भ० का० में जिसमें एकाच् उत्तर पद है उस समास में पूर्वपदस्थनिमित्त से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्ति के नकार को णकारादेश होता है।[3]

सुरापिणः —भ० का० IX.96

भ०का० में कवर्ग वान् उत्तर पद वाले समास में, पूर्वपद निमित्त हो तो उससे परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्तिस्य नकार को णकारादेश होता है।[4]

संघर्ष योगिणः —भ० का० IX.97

यहाँ कवर्ग युक्त उत्तर पद योगिण् के प्रातिपदिकान्त नकार को पूर्वपद संघर्ष के निमित्त होने के कारण णकारादेश हुआ है।

भ० का० में उपदेश काल में जिस धातु में णकार रहा हो उस धातु के उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्ती नकार के स्थान में, समास न होने पर भी णकारादेश होता है।[5]

प्रणेमुः —भ० का० IX.97

यहाँ पर "णम् प्रह्त्वे" धातु है इसे उपदेश काल में णकार है, अतः इसके पूर्व में उपसर्ग होने के कारण समास न होने पर भी णकार हुआ है।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.8.
2. वही, 8.4.11.
3. वही, 8.4.12.
4. वही, 8.4.13.
5. वही, 8 4.14.

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे हिनु-मीना इनके नकार को णकारादेश होता है।[1]

प्रमीणन्तम् —भ० का० IX.97
प्रहिण्वन्तः —भ० का० IX.97

यहाँ मी+श्ना तथा हि+श्ना के नकार के स्थान में उपसर्ग पूर्व में होने के कारण णकारादेश हुआ है।

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे लोट् लकार के आदेश आनि शब्द के नकार को णकारादेश होता है।[2]

प्रवपाणि —भ० का० IX.98

भ० का० में गद्, हन्, नद्, पा आदि धातुओं के परे होने पर उपसर्गस्थ निमित्त से परे नि के नकार को णकारादेश होता है।[3]

प्रण्यगादीत् —भ० का० IX.99
प्रणिघ्नन्तम् —भ० का० IX.99
प्रणिनदन् —भ० का० IX.99
प्रणिपातुम् —भ० का० IX.100

भ० का० में उपदेशावस्था में क्, ख् जिसके आदि में और ष् अन्त में न् हो ऐसा पूर्वोक्तों से शेष धातु परे हो तो उपसर्गस्थ निमित्त से परे नि के नकार को णकारादेश विकल्प से होता है।[4]

प्रणिजानीहि —भ० का० IX.100

यहाँ प्र तथा नि पूर्वक ज्ञा धातु होने से नकार को णकार आदेश हुआ है।

भ० का० में अन्तः समीपवर्ती जो उपसर्गस्थ रेफ, उससे परे अन् धातु के नकार को णकारादेश होता है।[5]

प्राणयन्तम् —भ० का० IX.100.

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.15.
2. वही, 8.4.16.
3. वही, 8.4.17.
4. वही, 8.4.18.
5. वही, 8.4.19.

यहाँ अन् धातु से पूर्व प्र का रेफ है इसलिए अन् के नकार को णकारादेश हुआ है ।

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे, अभ्यास युक्त अन् धातु के दोनों नकारों को णकारादेश होता है ।[1]

प्राणिणिषु —भ० का० IX.101

उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् धातु के अकार पूर्वक नकार को णकारादेश होता है ।[2] पर भ० का० में इसका प्रत्युदाहरण दिया गया है ।

प्राघानिषत —भ० का० IX.102

भ० का० में वकार तथा मकार के परे भी उपसर्गस्थ निमित्त से परवर्त्ती "हन्" धातु के नकार को विकल्प से णकारादेश हो जाता है ।[3]

प्रहण्मः —भ० का० IX.102

यहाँ मकार परे होने पर प्र उपसर्ग के बाद हन् के न् को ण् हुआ है ।

भ० का० में देश अभिधेय न हो तो अन्तर शब्द से परे हन् धातु के अकार पूर्वक नकार को णकारादेश होता है ।[4]

वेश्माऽन्तर्हणनम् —भ० का० IX.103.

वेश्म शब्द अभिधेय होने के कारण अन्तर शब्द से परे हन् धातु के अकार पूर्वक नकार को णकारादेश हुआ है ।

अन्तर शब्द से उत्तरवर्ती अयन शब्द के नकार को भी णकारादेश हो जाता है यदि समुदाय संज्ञा शब्द न हो तो ।[5]

अन्तरयणम् —भ० का० IX.103

संज्ञा शब्द न होने के कारण अयन के नकार को णकारादेश हुआ है ।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.20.
2. वही, 8.4.22.
3. वही, 8.4.23.
4. वही, 8.4.24.
5. वही, 8.4.25.

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे अच् जिसके पूर्व उस कृतस्थ नकार को णकारादेश होता है ।[1]

प्रयाणऽर्हम् —भ० का० IX.103
प्रहीणजीवितम् —भ० का० IX.104

यहाँ कृत् प्रत्यय अच् और क्त से पूर्व उपसर्गस्थ निमित्त से परे अच् पूर्व में होने पर नकार को णकार हुआ है ।

उपसर्गस्थ निमित्त से, ण्यन्त धातु से विहित कृतस्थ अच् पूर्वक जो नकार उसको णकारादेश विकल्प से होता है ।[2]

प्रहापणम् —भ० का० IX.104

उपसर्गस्थ निमित्त से परे और हलादि इजुपध धातु से परे, कृतस्थ अच् पूर्वक जो नकार उसको णकारादेश विकल्प से होता है ।[3]

रावणाऽमर्ष प्रकोपणम् —भ० का० IX.105
आयुः प्रगोपणम् —भ० का० IX.105

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे इजादि सनुम् हलन्त धातु से विहित जो कृत् प्रत्यय, ततस्थ अच् पूर्वक नकार को णकारादेश होता है ।[4]

वनाऽन्तेप्रेखणम् —भ० का० IX.106

उपसर्गस्थ निमित्त से परे निस्, निक्ष् और निन्द के नकार को णकार विकल्प से होता है ।[5]

परिणिसंकः —भ० का० IX.106
प्रणिन्धः —भ० का० IX.106
प्रणिक्षिष्यति —भ० का० IX.106

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे भा० भू० पू० कमि, गमि, यामि और वेष धातु के कृतस्थ नकार को णकार नहीं होता ।[6]

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.29.
2. वही, 8.4.30.
3. वही, 8.4.31.
4. वही, 8.4.32.
5. वही, 8.4.33.
6. वही, 8.4.34.

प्रगमन्म् —भ० का० IX.107
अतिप्रवेपनम् —भ० का० IX.107
प्रभानम् —भ० का० IX.107

भ० का० में षकारान्त नश् को णकारादेश नहीं होता ।[1]

प्रनष्टः —भ० का० IX.108

भ० का० में पदान्त षकार से परे नकार को णकारादेश नहीं होता ।[2]

दुष्पानः —भ० का० IX.108

भ० का० में निमित्त और निमित्त का पदव्यवधान भी हो, तो नकार को णकार नहीं होता ।[3]

शेषभीम मुखेन —भ० का० IX.109

क्षुम्नादिक शब्दों में नकार को णकार नहीं होता है ।[4]

क्षुम्नता —भ० का० IX.109

विसर्ग सन्धि

विसर्ग सन्धि का वर्णन भट्टि ने पाणिनि सूत्र क्रम से किया है। नवें सर्ग के 58वें श्लोक से 66 वें श्लोक तक इसके नियमों के उदाहरण भ० का० में दिए गए हैं।

जब दो वर्णों के समीप होने पर किसी वर्ण को विसर्ग हो जाता है। अथवा विसर्गों को कोई अन्य वर्ण हो जाता है उसे विसर्ग सन्धि कहते हैं।

विसर्ग के बाद खर् (वर्ग के प्रथम, द्वितीय वर्ण या **श्**, **ष्**, **स्** हो तो विसर्ग को **स्** हो जाता है ।[5]

ससैन्यश्छादयन् —भ० का० IX.58 ससैन्यः छादयन्
जिताभिमानाश्च —भ० का० II.25 जिताभिजानाः च
अवसरप्रतीक्षस्तदा —भ० का० II.29 अवसर प्रतीक्षः तदा

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.35.
2. वही, 8.4.35.
3. वही, 8.4.38.
4. वही, 8.4.38.
5. वही, 8.3.34.

यहाँ प्रथम प्रक्षय उदाहरण में विसर्ग के बाद वर्ग का द्वितीय वर्ण छ, द्वितीय में वर्ग का प्रथम वर्ण च, तृतीय में वर्ग का प्रथम वर्ण खर् परे होने के कारण "स्तो श्चुना श्चु"[1] से श्चुत्व सन्धि होकर विसर्ग को सकार तथा शकार हुआ है।

भ० का० में थ्, द् तथा ठ् से पहले विसर्ग नहीं मिलते हैं। जब विसर्ग के बाद क् या ख् आए तो विसर्ग जिह्वामूलीय में तथा प् और फ् आने पर उपध्मानीय में विकल्प से परिवर्तित हो जाते हैं।[2]

भ० का० में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का एक-एक उदाहरण मिलता है।

वानरा‿कुलशैलाभः —भ० का० IX.59
कुलशैलाभ‿प्रसह्यायुधशीकरम् —भ० का० IX.59

अन्यत्र भट्टि काव्य में क्, ख्, फ् से पहले विसर्ग अपरिवर्तित रहते हैं।

न्यस्तः किम् —भ० का० XI.33
प्रयोगः पुनः —भ० का० XI 6

ख् तथा फ् विसर्ग के बाद भ० का० में बहुत कम मिलते हैं। शर् से पूर्व विसर्ग के स्थान में विकल्प से विसर्ग आदेश होता है।[3] भ० का० में स्, श्, ष् से पहले केवल एक उदाहरण को छोड़कर विसर्गों में परिवर्तन नहीं होता है।

ज्योतिः सात्कुर्वीत —भ० का० IX.85
अनिलः शीतो —भ० का० VI.22
शतशः सर्वतः —भ० का० IX.58

भ० का० में विसर्ग में परिवर्तन के बिना श् से पूर्व विसर्ग सहित रूप मिलते हैं।

भ० का० में केवल एक उदाहरण में शर् से पूर्व विसर्ग का स् बना है।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.40.
2. वही, 8.3.37.
3. वही, 8.3.36.

सर्वतेजस्सु = सर्व तेजः सु—भ० का० IX.85

भ० का० में शर् परे हो जिसके ऐसे खर् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय वर्ण और श्, ष्, स्) के परे रहते विसर्जनीय के स्थान में विसर्जनीय आदेश होता है।[1]

शरैः क्षुरप्रैर्मायाभिः —भ० का० IX.58

यहाँ विसर्ग के बाद खर् प्रत्याहार का वर्ण क् होने के कारण विसर्ग ही रहा।

भ० का० में पद के आदि में न आने वाले कवर्ग तथा पवर्ग के परे रहते विसर्जनीय के स्थान में सकारादेश हो जाता है।[2]

तमस्कल्पान् —भ० का० IX.59
रक्षस्पाशान —भ० का० IX.59
यशास्कल्पान् —भ० का० IX.59

यहाँ कवर्ग तथा पवर्ग परे रहने पर विसर्ग को स् आदेश हुआ है।

भ० का० में अपदादि कवर्ग तथा चवर्ग के परे रहते इण् से उत्तर-वर्ती विसर्ग के स्थान में षकारादेश होता है।

धनुष्पाशभृतः —भ० का० IX.60
ज्योतिष्कल्पोरूकेशरः —भ० का० IX.60

कवर्ग तथा पवर्ग के परे रहते, गति संज्ञक नमस्, पुरस् शब्दों के सम्बन्धी विसर्ग के स्थान में सकारादेश हो जाता है।

नमस्कारान् —भ० का० IX.60
पुरस्कृतान् —भ० का० IX.60

यहाँ नमस् तथा पुरस् के विसर्ग के स्थान में कवर्ग का क परे होने पर सकारादेश हुआ है।

भ० का० में इकार अथवा उकार जिसकी उपधा में हो ऐसे प्रत्यय-स्थापि निकाभिन्न विसर्ग के स्थान में सकारादेश होता है। महाकवि भट्टि की यह विशेषता है कि महान् वैयाकरणों के वचनों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा उसे अत्यन्त रोचक बनाते हुए साहित्य प्रेमियों के गले

---

1. अष्टाध्यायी, 8.3.35.
2. वही, 8.3.38.

उतार देते हैं। यहाँ भट्टि ने कारिका के ही उदाहरणों में थोड़ा सा परिवर्तन करके दिया है। यथा—

निष्क्रयम् —भ० का० IX.61 निष्कृतम् काशिका 8.3.41 पर
दुष्कृत —भ० का० IX.61 दुष्कृतम् का० 8.3.41 पर
आविष्कृत —भ० का० IX.61 आविष्कृतम् का० 8.3.41 पर
बहिष्कृतः —भ० का० IX.61 बहिष्कृतम् का० 9.3.41 पर
चतुष्काष्ठाम्—भ० का० IX.62 चतुष्कृतम् का० 8.3.41 पर

यहाँ इकार तथा उकार उपधा में होने के कारण प्रत्ययों से पहले विसर्ग के स्थान में सकारादेश हुआ है।

भ० का० में पवर्ग के कोई उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

भ० का० में कवर्ग तथा चवर्ग के परे रहते तिरस् शब्द के विसर्जनीय के स्थान में विकल्प से सकारादेश हो जाता है।[1]

तिरस्कुर्वन् —भ० का० IX.62
तिरस्कृत —भ० का० IX.62

भ० का० में ख्, प्, फ् विसर्ग के बाद नहीं मिलते। यह भट्टि काव्य की अपनी विशेषता है।

भ० का० में कवर्ग तथा पवर्ग के परे रहते कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले दिवस्, त्रिस् तथा चतुर शब्दों के विसर्जनीय के स्थान में विकल्प से षकारादेश हो जाता है।[2] लेकिन संख्या वाचक विशेषण के रूप में द्विः चतुः के विसर्ग के स्थान पर स् अवश्य होता है।

द्विष्कुर्वतम् —भ० का० IX.63
चतुष्कुर्वतम् —भ० का० IX.63

भ० का० में पवर्ग का कोई भी वर्ण द्विः, त्रिः, चतुः के बाद नहीं दिया गया है। कारिका में कण्ठ्य और ओष्ठ्य दोनों के ही विसर्ग के बाद सन्धि के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

काशिका 8.3.43—द्विवष्करोति, दिःकरोति, त्रिष्करोति, त्रिः करोति

1. अष्टाध्यायी, 8.3.42.
2. वही, 8.3.43.

चतुष्करोति —चतु: करोति
द्विष्पचति —द्वि: पचति
त्रिष्पचति —त्रि: पचति
चतुष्पचति —चतु: पचति

भ० का० में कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते **इस** तथा **उस** शब्दों के विसर्ग के स्थान में विकल्प से षकारादेश हो जाता है यदि सामर्थ्य गम्यमान हो तो ।[1]

बहिष्करिष्यम् —भ० का० IX.63
ज्योतिष्कुर्वन् —भ० का० IX.64

यहाँ कवर्ग परे रहने पर **इस** के विसर्ग को सकार आदेश हुआ है ।

कवर्ग तथा पवर्ग परे रहने पर समास में **इस्** तथा **उस्** शब्दों के उत्तर पद में **न्** रहने वाले, विसर्जनीय के स्थान में तित्य षत्व हो जाता है ।[2]

अनायुष्करम् —भ० का० IX.64
अरूष्करान् —भ० का० IX.65
ज्योतिष्कर: —भ० का० IX.65

यहाँ **इस्** तथा **उस्** युक्त शब्द पूर्वपद में रहने के कारण कवर्ग परे होने पर **इस्** तथा **उस्** के विसर्ग के स्थान में षकार हुआ है ।

भ० का० के समास में **कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा** तथा **कर्णी** शब्दों के परे रहते अकारोत्तरवर्ती, अव्ययभिन्न एवम् उत्तर पद के अनवयव विसर्जनीय के स्थान में नित्य सकारादेश हो जाता है ।[3] भ० का० में केवल **कृ** तथा **कमि** की ही यश: शब्द के साथ सकारादेश विसर्ग की सन्धि हुई है ।

यशस्कर: —भ० का० IX.65
यशस्कामान् —भ० का० IX.65

समास विषय में पद शब्द के परे रहते उत्तरपद के अनवयव अधस् तथा शिरस् शब्दों के विसर्ग के स्थान में सकारादेश हो जाता है ।[4] भ० का० में अध: शब्द के साथ ही पद की सन्धि का उदाहरण दिया गया है ।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.3.44.
2. वही, 8.3.45.
3. वही, 8.3.46.
4. वही, 8.3.47.

अधस्पदम् —भ० का० IX.66

भ० का० मंकवर्ग परे रहते 'तमस्' शब्द के विसर्जनीय के स्थान में सकार आदेश हुआ है।[1]

तमस्काण्डै: —भ० का० IX.66

भ० का० में रेफ से परे रेफ का लोप होकर, रेफ निमित्तिक रेफ लोप होने पर लुप्त रेफ से पूर्ववर्ती अण् के स्थान में दीर्घ हो जाता है।[2]

कथा भी रम से

यहाँ कथाभिर से परे र् होने के कारण पूर्ववर्ती रेफ का लोप हुआ तथा पूर्ववर्ती अण् के स्थान में दीर्घ होकर कथा भी बना।

इसी तरह ऊढ: में ढकार के परे ढकार होने से पूर्व ढकार का लोप होकर ढकार से पूर्ववर्ती ड को दीर्घ हो गया।[3]

भ० का० में अप्लुत अकार से परे अप्लुत अकार होने पर रु के स्थान में उकारादेश हो जाता है तथा हश् परे होने पर भी उकार आदेश हो जाता है।[4]

अखिलोऽध्यगायि —भ० का० I.16
ततोऽभ्यगाद् —भ० का० I.17
यत्तेभ्योद्रुह्यद्भ्योऽपि —भ० का० 4.39

प्रथम और द्वितीय उदाहरण में—अकार से परे अकार होने पर उकार तथा गुण होकर ओकार बना है। तृतीय उदाहरण में हश् (वर्ग के तृतीय, चतुर्थ, पंचम अक्षर ह् तथा अन्तस्थ) परे होने के कारण रु को उकारादेश हुआ है।

अ वर्ण पूर्व में होने पर पदान्त यकार तका दकार का अश् परे न रहते शाकल्य आचार्य के मतानुसार लोप हो जाता है।[5]

---

1. अष्टाध्यायी, 8.3 48.
2. वही, 8 3.14, 8.3.111.
3. वही, 5.3.111.
4. वही, 5.1.113, 114.
5. वही, 8.3.19.

गुरुशोका मा —भ० का० I.26
लता विलोला: —भ० का० II.25

यहाँ अश् वर्ग के तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ग तथा स्वर ह्, अन्तस्थ (परे होने पर) विसर्ग का लोप हो गया।

सकारान्त पद तथा सजुष् शब्द के स्थान में 'रु' हो जाता है।[1]

जिहिंसुरदघृषु: —भ० का० XIV. 102
ब्रह्मभिरिद्धबोधै: —भ० का० I.5

भ० का० में ककार रहित एतत् तथा तत् शब्द यदि नञ् के साथ समस्त न हो तो उनसे सम्बद्ध 'सु' विभक्ति का हल् के परे रहने पर संहिता विषय में लोप हो जाता है।[2]

एष प्रावृषि —भ० का० V.54
स पुण्यकीर्ति: —भ० का० I.5

यहाँ तथा एतत् तथा तत् ककार रहित है; तथा नञ् के साथ समस्त नहीं है इसलिए हल् 'प्र' परे होने पर सु विभक्ति का लोप हो गया है।

भ० का० में अम् हो पर में जिसके ऐसे खय् के परे रहने पर पुम् के स्थान में रु आदेश हो जाता है।[3]

अम् (सभी स्वर, अन्तस्थ, तथा अनुनासिक)

खय् (वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण)

अपुस्का —भ० का० 5.70

यहाँ पुम् से परे खय् वर्ग का प्रथम वर्ण (क्) होने के कारण तथा पूर्व में अ (अम्) होने के कारण पुम् के स्थान में रु आदेश हुआ तथा 'समः सुटि से'[4] स् बना।

शर (श्, स्, ष्) के परे विसर्ग के स्थान में विकल्प से विसर्ग आदेश होता है।[5]

---

1. अष्टाध्यायी, 6 2.66.
2. वही, 6.1.132.
3. वही, 8.3 6.
4. वही, 8.3.5.
5. वही, 8.3.36.

प्रमत्तः स्थायुकः —म० का० 7.18

यहाँ शर् परे होने पर विसर्ग के स्थान में विसर्ग हुआ है।

शंस्थरूपः स्थिरप्रज्ञः —भ० का० 6.125

कात्यायन की वार्तिक के अनुसार विसर्ग का विकल्प से लोप हो जाता है जबकि अघोष शर् के परे खर् हो।'[1]

कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार[2] अन्तिम विसर्ग का विकल्प से लोप हो जाता है जब इसके बाद शर् (श्, ष्, स्) के साथ अनुनासिक या अन्तस्थ हो, पर पाणिनि इस लोप का कोई निर्देश नहीं करता। म० का० में भी विसर्ग लोप का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

शोकाऽग्निः स्वान्तं —म० का० 6.22

———

1. अष्टाध्यायी, 8.3.36 पर वार्तिक।
2. Ved. Gr. p. 71; Ved. Gr. Skt., p. 35.

अध्याय चतुर्थ

समास

समास

भट्टि का मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों की अपने काव्य के माध्यम से व्याख्या करना है। इस अध्याय में इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए समास के सभी नियमों की व्याख्या करते हुए विशद् विवेचन किया है। भट्टि काव्य में सर्वत्र भट्टि की रुचि दीर्घ समासों की तरफ नहीं है, केवल 13 सर्ग में दीर्घ समासों का प्रयोग बहुतायत से किया है। इस सर्ग में अधिकतर श्लोकों में दोनों पंक्तियों में विभिन्न शब्दों की विभक्तियों का लोप करके एक-एक शब्द बना दिया है। इस सर्ग में बहुव्रीहि समाम का प्रयोग अधिक किया गया है। यथा—

अरविन्दरेणुपिंचरसारसरविहारिविमलबहुचारुजलम्।
रविमणिसंभवहिमहरसमागमाबद्धबहुलसुरतरुधूयम्॥

—भ० का० XIII.19

हरिवबिलोल वारणगम्भीरावद्धसरस पुरुसंरावम्।
घोणा संगम पंकाविलसुवलभरसहोरुवराहम्॥—भ ०का० XIII.20

लंकालयतुमुलाइसुभरगभीरोरुकुंजकन्दरविवरम्म्।
वीणारवरस संगमसुरगणसंकुलमहातमालच्छायम्॥—XIII.32

इसी तरह 13वें सर्ग के 33, 34, 40, 41, 42, 46, 47, 49 श्लोकों में दीर्घ समासों का प्रयोग किया गया है। शेष काव्य में भट्टि 3 या 4 शब्दों को समस्त पद बनाता है पर वहाँ भी दीर्घ समासों के उदाहरण दर्शनीय हैं।

शक्त्यृष्टिपरिघ प्रासावामुद्गरपाणयः।—भ० का० IX.4

भट्टि अनेक विभक्तियों वाले तथा विभिन्न समासों को जोड़कर एक अन्य समास बनाता है यथा—

राक्षसानामखिलकुलक्षयपूर्वलिंगतुल्यः।—भ० का० IX.45

यहाँ कर्मधारय षष्ठी तत्पुरुष, कर्मधारय सप्तमी तत्पुरुष तथा तृतीय तत्पुरुष आदि को संयुक्त किया गया है। लौकिक संस्कृत में दीर्घ समासों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। वैदिक भाषा में दो या तीन शब्दों के समास ही मिलते है। दीर्घ समास का वैदिक भाषा में अभाव है। भ० का० में निम्नलिखित समासों का वर्णन किया गया है—

1. सुप्सुपा समास
2. अव्ययीभाव समास
3. तत्पुरुष समास
4. कर्मधारय समास
5. बहुव्रीहि समास
6. द्वन्द्व समास

सुप्सुपा समास

भट्टि काव्य के टीकाकार विशेष समास सुप्सुपा का उल्लेख भ०का० में करते हैं। पाणिनीय सूत्र के आधार "सहसुपा" पर पतंजलि इसे समास की श्रेणी में स्वीकार करते हुए व्याख्या करते हैं।[1]

"सुप च सह सुप समस्यते अधिकारश्च लक्षणं व यस्य समासस्य अण्य लक्षणं नास्ति इदं तटस्थ लक्षणं भविष्यति।"

पर डॉ० नरेन्द्र[2] चन्द्र नाथ के अनुसार इस सुप्सुपा को अलग समास नहीं माना जा सकता। क्योंकि पाणिनि ने इसको अलग श्रेणी में नहीं रखा है। पतजलि की व्याख्या भी स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि पाणिनीय सूत्र समास की सामान्य विशेषता बताता है, अलग श्रेणी नहीं।

एम० आर० काले सुप्सुपा को समासों की एक अलग श्रेणी स्वीकार

---

1. महा० भा०, पाणिनीय सूत्र 2.1.4 पर व्याख्या।
2. Paninian Interpretation of the Sanskrit Language, p. 128. "This supa-supa cannot be admitted as as eparate class of compounds approved by Panini. Patanjali's statement is also not acceptable. Because this rule gives a general characteristic of compound not a class of compound. A Higher Sanskrit Grammar, p. 115 f. Art 85 cf.

करते हैं। वह समास की चार मुख्य श्रेणियों के साथ इसे पाँचवीं श्रेणी मानते हैं। एम० आर० काले के अनुसार—[1]

वैयाकरणों के विचारों का अनुसरण करते हुए भट्टि काव्य के टीकाकारों ने कुछ प्रयोगों को सुप्सुपा समास का नाम दिया है।

प्रतनूनि	—भ० का० I.18 प्रकृष्टेन तनूनि प्रकर्षेण तनूनि
विचित्रम्	—भ० का० II.17 विशेषेण चित्रम्
अतिगुरु	—भ० का० II.39 अत्यन्तं गुरु:
सहचरीम	—भ० का० V.20 सह चरतीति
श्रुताऽन्वित	—भ० का० I.1 श्रुतैरन्वित:

श्रुताऽन्वित: शब्द के समास के विषय में विचार करते हुए श्लोक भ०का० I.1 की टीका में कहा गया है—

श्रुतैरन्वितः श्रुतान्वितः, "तृतीया तत्कृताऽथन गुणवचनेन" इत्यत्र वैसटाविमते तृतीया इति योगविभागात तृतीया तत्पुरुषः, योग विभागपक्षस्य भाष्यकाराऽसम्मत्तत्वात्पक्षे सुप्सुपा समासः।"

वैदिक भाषा में सुप्सुपा समास का कोई उदाहरण नहीं मिलता, न ही इसे अलग समास श्रेणी में रखा गया है।

अव्ययीभाव समास

भट्टि काव्य में अव्ययी भाव समास का प्रयोग बहुव्रीहि तथा कर्मधारय समास की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। इसमें प्रथम पद प्रधान होता है और समास होने पर समस्त पद का नपुंसकलिंग में प्रयोग होता है। इसका प्रथम पद कोई अव्यय या उपसर्ग होता है।

भट्टि काव्य अव्ययीभाव समास में अव्ययों का निम्न अर्थों में समास हुआ है।

---

1. "This is true only generally speaking. For there is a fifth class of compounds Viz. Sabasupa-Compounds not governed by any of the rules given under the four classes by explained on the general principal that any Subant-Pada may be compounded with any other Subant-Pada.

विभक्ति अर्थ में—

अधिमर्म	—भ० का० 5.3 मर्मसु—इति	
अधिजलधि	—भ० का० X. 67 जलधौ इति	
अनुरहसम्	—भ० का० 4.24 रहसि इति	
अन्तर्गिरम्	—भ० का० 5.87 गिराविति	

सामीप्य अर्थ में "उप" उपसर्ग का, प्रयोग हुआ है—

उपाग्नि	—भ० का० 6.106	अग्नेः समीपे
उपशूरम्	—भ० का० 8.87	शूरस्य समीपे
औपनीविकः	—भ० का० 4.26	नीव्याः समीपे

अर्थ अभाव अर्थ में—

अभयम्	—भ० का० 4.27	भयस्यऽभावः
अनपराधम्	—भ० का० 4.39	अपराधस्य अभावः

पश्चात् अर्थ में—

अनुपदी	—भ० का० 5.50	पदस्य पश्चाद्

आवृत्ति अर्थ में—

प्रतिककुभम	—भ० का० XI.47	ककुभं ककुभं प्रति
अनुदिशम्	—भ० का० X.8	दिशं दिशं प्रति

पदार्थ की अनतिवृत्ति अर्थ में—

यथेप्सितम्	—भ० का० II.28	ईप्सितं अनतिक्रम्य
अयायातथ्यवत्	—भ० का० XXI.15	तथा अनतिक्रम्य

यौगपथ या साकल्य अर्थ में—

सराजम्	—भ० का० II.49	राज्ञा युगपद् या राज्ञा सह

कुछ शब्द दो "तिष्ठदगु" आदि में निपातित हैं उन्हें पाणिनि ने उन में अव्ययीभाव समास माना है।[1] भट्टि काव्य में इस गण के दो समास पाए जाते हैं—

आयतीगवम्	—भ० का० 4.14	आयत्यो गवो यस्मिन् काले
आतिष्ठदगु	—भ० का० 4.14	तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्

1. अष्टाध्यायी, 2.1.17.

भट्टोजिदीक्षित[1] और शरणदेव[2] के अनुसार "आतिष्ठदगु" में 'आङ्' का तिष्ठदगु के साथ समास उचित नहीं है क्योंकि तिष्ठदगु निपातित शब्द है निपातित शब्द का अन्य शब्द के साथ समास सम्भव नहीं है। इसे "तिष्ठदगुप्रभृतीनि च" सूत्र में "च" से निषेध भी किया गया है। इसके विषय में जयमंगल का उल्लेख करते हुए इस समास को उचित भी ठहराते हैं। जयमंगल के अनुसार अव्ययी भाव समास के अतिरिक्त सूत्र से निपातित शब्दो में अन्य समास नहीं हो सकता। इसका निषेध पाणिनीय सूत्र "आङ् मर्यादाभिविध्योः"[3] से किया गया है। इस शब्द में मार्यदा अर्थ में समास किया गया है जयमंगल ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—

> **तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् (काले) दोहाय इति तिष्ठदगु (दोहनकालः) तिष्ठदगु प्रभृतीनिच इत्यव्ययीभाव निपातनात् साधुत्वम्। तिष्ठदगु पर्यन्तम् आतिष्ठदगु अंग मर्यादाऽभिध्योः इति अव्ययीभावः।**

"पार और मध्य" शब्दों का षष्ठ्यन्त शब्द के साथ विकल्प से अव्ययी भाव समास होता है समास होने पर पार और मध्य के ऊ को ए हो जाता है।[4]

पारेसमुद्रम् —भ० का० 5.4 पारे समुदस्य पारे समुद्र तम्
मध्येजलात् —भ० का० III.50 मध्ये जलस्य मध्ये जलं तस्मात्

मर्यादा तथा अभिविधि में वर्तमान "आङ्" का पंचम्यन्त के साथ विकल्प से अव्ययी भाव समास होता है।[5]

आरामदर्शनात् —भ० का० 8.88 आरामदर्शनं
आत्रिकूटम् —भ० का० 8.95 आत्रिकूटात्

"प्रति" अर्थ में "अभि" अव्यय का समास हुआ है।

अभ्यमित्रम् —भ० का० 5.46 अमित्रस्य अभिमुखं अमित्रं प्रति
अभ्ययोध्यम् —भ० का० II.49 योध्यम् अभि

---

1. शब्दकौस्तुभ, नेने गोपाल शास्त्री, पृ० 168.
2. दुर्घटवृत्ति, गणपति शास्त्री, पृ० 33; पा० 2.1.17.
3. अष्टाध्यायी, 2.1.13.
4. वही, 2.1.18.
5. वही, 2.1.13.

तत्पुरुष समास

तत्पुरुष समास की भ० का० में प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है तथा अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ भी लिए हुए हैं। भ० का० में इस समास की श्रेणियाँ पाणिनि नियमानुसार हैं, केवल एक रूपक समास का ही अलग प्रयोग किया गया है जो कि पाणिनीय विभाजन के अनुसार नहीं है।

सामान्यतया इस समास में दो पदों में से दूसरा पद प्रधान होता है। पाणिनि नियमानुसार तत्पुरुष समास को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है तथा ये ही भ० का० में भी विद्यमान हैं।

व्यधिकरण तत्पुरुष—द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी

समानाधिकरण तत्पुरुष—कर्मधारय, द्विगु

अन्य तत्पुरुष—प्रादि, गति, नञ्, उपपद, अलुक्, मध्यमपदलोपी, मयूरव्यंसकादि समास

रूपक समास—जो कि पाणिनि के अनुसार नहीं है।

द्वितीया तत्पुरुष समास

भट्टि काव्य में इस समास के बहुत कम उदाहरण पाए जाते हैं। द्वितीयान्त सुबन्त का श्रित आदि शब्दों के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है।[1]

कष्टाश्रितम् —भ० का० 5.53 कष्टम् श्रितम्
विपद्गतम् —भ० का० 18.28 विपदम् गतम्

निन्दा के गम्यमान होने पर द्वितीयान्त खट्वा शब्द का क्त प्रत्ययान्त शब्द के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है।[2]

खट्वारूढ़: —भ० का० 5.10 षट्वाय् आरूढ़:

तृतीया तत्पुरुष समास

इस समास का भ० का० में बहुत बार प्रयोग हुआ है। तृतीयान्त सुबन्त का गुणवचन शब्द तथा अर्थ शब्द के साथ तत्पुरुष समास विकल्प से

1. अष्टाध्यायी, 2.1.24.
2. वही, 2.1.26.

होता है ।[1] पूर्व सदृश, सम, अन, कलह, निपुण, मिश्र एवं श्लक्षण शब्दों के साथ तथा कृदन्त के साथ काफी तृतीयान्त पद का तत्पुरुष समास विकल्प से होता है ।[2]

आत्मकृतान्	—भ० का० II.9	आत्मना कृतान्
राममहित	—भ० का० X.2	महित: पूजित: मह-पूजायाम्
सिंह सम:	—भ० का० X 36	सिंहेन सम:

"राममहित:" में समास संभव नहीं है क्योंकि इसका निषेध "क्तेन च पूजयाम्" सूत्र में किया गया है ।[3] इस सूत्र के अनुसार मति, बुद्धि आदि सूत्र से विहित क्त प्रत्यय से युक्त शब्दों के साथ षष्ठन्त का तत्पुरुष समास नहीं होता । सूत्र "मतिबुद्धिपुजार्थिभ्यश्च"[4] के अनुसार इच्छार्थक, ज्ञानार्थक तथा सकारार्थक धातुओं से वर्तमान काल में क्त प्रत्यय होता है । लेकिन "राममाहित" राघव "सत्कृत" में क्त प्रत्यय का प्रयोग भूतकाल में हुआ है । अत: इस प्रयोग को "कर्तृकरण कृता बहुत"[5] में सूत्र के अनुसार ठीक माना जा सकता है जिसके अनुसार कर्तृ तृतीयान्त तथा करण तृतीयान्त शब्दों का कृदन्त शब्दों के साथ बाहुल्येन तत्पुरुष समास होता है । इसलिए यहाँ तृतीया तत्पुरुष समास उचित है ।

चतुर्थी तत्पुरुष

इस समास का प्रयोग भ० का० में बहुत कम हुआ है । तदर्थ एवम् **अर्थ, बलि, हित, सुख** तथा **रक्षित** शब्दों के साथ चतुर्थ्यन्त पद का विकल्प से तत्पुरुष समास होता है ।[6]

भुवनहित	—भ० का० I.1	भुवनेभ्य: हितम्
राक्षसार्थम्	—भ० का० XII 50	राक्षसाय अयं, राक्षस अर्थस्तम्

1. अष्टाध्यायी, 2.1.30.
2. वही, 2.1.31, 32, 33, 34, 35.
3. वही, 2.2.12.
4. वही, 3.2.188
5. वही, 2.1.32.
6. वही, 2.1.36.

पंचमी तत्पुरुष समास

इस समास का भी भ० का० में बहुत कम प्रयोग है। केवल एक ही प्रयोग अलग होने अर्थ में मिलता है।

वासच्युत: —भ० का० XI.22 वासात् च्युत:

षष्ठी तत्पुरुष

षष्ठी तत्पुरुष का भ० का० में बाहुल्येन प्रयोग हुआ है। षष्ठयन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास होता है। तथा याजकादि शब्दों के साथ षष्ठयन्त का तत्पुरुष समास होता है।[1]

दैत्यपुरम् —भ० का० II.42 दैत्यानां पुरम्
राज्यधुराम् —भ० का० III.54 राज्यस्य धुराम्

सप्तमी तत्पुरुष

इस समास के भ० का० में अनेक उदाहरण मिलते हैं। दक्ष, निष्णात् शौण्ड, आदि शब्दों के साथ सप्तम्यन्त पद का समास हुआ है।[2]

निर्माण दक्ष: —भ० का० I.6 निर्माणे दक्ष:
आतिश्यनिष्णा: —भ० का० II.26 आतिथ्ये निष्णा:
पानशौण्ड: —भ० का० 5.10 पाने शौण्ड:

पात्रेसमितादि समस्त पद का निपातन होता है।[3] इस सूची के भ० का० में तीन उदाहरण दिए गए हैं।

गेहेनर्दिनम् —भ० का० 5.41 गेहे नर्दीतम्
पिण्डीशूरान् —भ० का० 5.85 पिण्डामेव शुरा: तान्
कूपमाण्डूकि —भ० का० 5.85 कूपे माण्डूकी

कर्मधारय समास

कर्मधारय समास का भ० का० में प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। विशेषण वाचक सुबन्त का विशेष्यवाचक समानाधिकरण सुबन्त के साथ बाहुल्येन तत्पुरुष समास होता है।[4]

---

1. अष्टाध्यायी, 2.2.8-9.
2. वही, 2.1.40.
3. वही, 2.1.48.
4. वही, 2.1 57.

स्वादुशीतै: —भ० का० 7.64 स्वादु नि च तानिशीलनि त: स्वादुरीत नि०

उपमान वाचक सुबन्त शब्दों का सामान्यवचन सुबन्त पद के साथ तत्पुरुष समास होता है।[1]

तृणलघु —भ० का० IX.110 तृणमिव लघु

उपमेय वाचक सुबन्त पद का व्याघ्रादि उपमानवाचक सुबन्त के साथ तत्पुरुष समास होता है यदि सामान्य वाचक पद का प्रयोग न हुआ हो।[2]

नृसिंहौ —भ० का० II.41 नर: सिंह: इव
कपिव्याघ्र: —भ० का० 8.60 कपि: व्याघ्र: इव

कुछ विशेष शब्दों का अन्य संज्ञा शब्दों के साथ प्रशंसा अर्थ में समास हुआ है।[3]

महान्तश्च ते ब्रह्माण महाब्रह्माण:

महाब्रह्म —भ० का० I. 4 महान् चश्सौ ब्रह्म:
परमार्थ —भ० का० I.15 परमश्चासौ अर्थ:
तापसकुंजरम् —भ० का० I.20 तापसश्चासौ कुंजर:
सर्वरात्र —भ० का० IX.112 सर्वाश्च ता: रात्रय: सर्वराला:
अश्रेणय: श्रेणय: कृता:
श्रेणीकृत: —भ० का० IX 42 श्रेणी च असौ कृत:

नञ् मात्र से अपने उत्तर पद से भिन्न नुम्विशिष्ट क्तप्रत्ययान्त के साथ समानाधिकरण **नञ्** रहित **क्त** प्रत्ययान्त शब्द का तत्पुरुष समास होता है।

कृताऽकृतेभ्य: —भ० का० III.21 कृतं च अकृतं च तेभ्य:

कर्मधारय समास की जितनी विभिन्नताएं भ० का० में मिलती हैं वैदिक भाषा में उसकी अपेक्षा उतनी ही कम मिलती हैं। वैदिक भाषा में कुछ शब्द जैसे "अलुक यातम् अथर्व वे० 8.4.22 गृध्र—यातम्—अथर्व वे० 8.4.22 ऐसे हैं जिन्हें पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार अनेक प्रकार से व्याख्येय

---

1. अष्टाध्यायी, 2.1.55.
2. वही, 2.1.56.
3. वही, 2.1.49.59.58.62.

समझा जा सकता है या अनेक श्रेणियों में रखा जा सकता है। किसी एक श्रेणी में रखने में वे असमर्थ हैं। भ० का० में इस तरह की अव्यवस्था आसानी से नहीं मिलती।

द्विगु समास

भ० का० में इस समास में बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। इस समास का प्रथम पद संख्यावाचक होता है।[1]

द्वयंजलम्	—भ० का० III.50	द्वयोरंजलयो: समाहार:
चतुष्काष्ठम्	—भ० का० IX.62	चतसृणां काष्ठानाम् समाहार:
पंचगवम्	—भ० का० XX.12	पंचानाम् गवां समाहार:

प्रादि तत्पुरुष

भ० का० में जब प्रथम पद कोई उपसर्ग हो और उसे किसी संज्ञा शब्द से जोड़ा जाए तो ऐसे समास प्रादि तत्पुरुष कहलाते हैं। इस समास के असंख्य उदाहरण भ० का० में मिलते हैं—

प्राध्ययनम्	—भ० का० II.24	प्रकृष्टमध्ययनम्
सुचारु	—भ० का० II.19	अत्यन्तम् चारु
विपक्ष	—भ० का० I.22	विरुद्ध: पक्ष:
प्रयत्नात्	—भ० का० III.4	प्रकृष्टो यत्न: प्रयत्न: तस्मात्

कुछ अव्यय शब्द जैसे "कु" आदि तथा कुछ गति संज्ञक शब्द भी अन्य पदों से संयुक्त किए गये हैं। अव्यय "कु" का भ० का० में प्रयोग "ईषतु" तथा "कुत्सित" अर्थ में किया है। जब कु से परे "ऊष्णम्" शब्द आता है तो यह "कव" में परिवर्तित हो जाता है।[2]

कवोष्णम् —भ० का० III.17 ईषदुष्णं

अर्थवत् तथा ऊष्णम् परे होने पर "कु" बाद में परिवर्तित हुआ है—

कदुष्णम् —भ० का० III.18 ईषदुष्ण

कद्रथवत् —भ० का० 5.10.3 कुत्सितो रथ:

'अक्ष' शब्द परे होने पर कु को 'क' कुत्सित अर्थ में हुआ है।

---

1. अष्टाध्यायी, 2.1.52.
2. वही, 2.2.18

काक्षेण	—म० का० 5.24	कुत्सितं अक्षम्

भट्टि काव्य में इन सभी उदाहरणों को "कुगतिप्रादाय" श्रेणी में रखा गया है।

समास शब्दों का एक विशाल समूह जिनके प्रारम्भ में उपसर्ग आते हैं भ० का० में "कुगतिप्रादाय" श्रेणी के अन्तर्गत रखे गए हैं।

आमन्द्रः	—भ० का० II.16	ईषन्मन्द्रः
दुनयैः	—भ० का० XII.68	दुष्टाः नया तैः
आकम्पम्	—भ० का० 7.1	आसमन्तात कम्प आकम्पः तम्
सुदुर्बुद्धे	—भ० का० 5.44	दुष्टा बुद्धिर्यस्य सः अत्यन्तं दुर्बुद्धिः

गति समास

भट्टि काव्य में कुछ विशेष शब्दों का क्त्वा प्रत्ययान्त शब्दों से समास हुआ है—

हस्तेकृत्य	—भ० का० 5.16	हस्ते कृत्वा
साक्षात्कृत्य	—भ० का० 5.71	साक्षात्कृत्वा
सजूः कृत्य	—भ० का० 5.72	सजूः कृत्वा

नञ् तत्पुरुष

निषेधार्थक नञ् निपात का सुबन्त के साथ समास तथा **न** को **अ** आदेश व्यंजन से पहले होकर तथा स्वरों से पहले **अन्** आदेश होकर **नञ्** समास बनता है।

अनीचैः	—भ० का० I.27	न नीचैः
अप्रगल्भम्	—भ० का० II.15	न प्रगल्भम्
नाकसदाम्	—भ० का० I.4	न कम् अकम्

'नाकसदाम्' शब्द में न लोपाभाव के विषय में स्पष्टीकरण देते हुए इस श्लोक की टीका में दिया गया है।

"कं सुखं, न कम् अकम् (दुःखम) 'नञ्' इति नञ् तत्पुरुषः, 'नलोपो नञः' इति नलोपः। न विद्यते अकंयस्मिन् स नाकः, 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः इति नञ् बहुव्रीहिः" नभ्राण्नपान्नवेदा नासत्यानमुचि

"नमुलनरवनपुंसनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या" इति नञः प्रकृतिभावेन, "न लोपो नञः" इति नलोपाऽभावः ।

उपपद समास

भट्टि काव्य में इस समास के कुछ उदाहरण विद्यमान हैं ।

उपपद संज्ञक सुबन्त का किसी उत्तरपद कृदन्त के साथ समास होता है ।

परन्तपः	—भ० का० I.1	परान् तापयतीति
रात्रिचरी	—भ० का० II.23	रात्रौ चरति इति
देवयजीन्	—भ० का० II.34	देवान् यजन्ति इति देवयजा तान्
कुलकीर्तिलोपे	—भ० का० III.54	कुलकीर्ति लुम्पति इति तस्मिन् ।

अलुक् समास

भट्टि काव्य में इस समास के बहुत कम उदाहरण विद्यमान हैं । इसके प्रथम पद की विभक्ति का लोप नहीं होता इसलिए यह अलुक् तत्पुरुष समास कहलाता है ।

गविष्ठिराम्	—भ० का० IX.84
सरसीरुहे	—भ० का० IX.47
गेहेनर्दिनम्	—भ० का० 5.41
अग्रेवणम्	—भ० का० IX.93

केवल एक उदाहरण भ० का० में "एकदेशि समास" का मिलता है ।

पूर्वाह्णे	—भ० का० IX.95	अह्नः पूर्वम् पूर्वाह्णः तस्मिन्

मध्यम पदलोपी समास

भट्टि काव्य में इस समास के असंख्य उदाहरण मिलते हैं । जबकि वैदिक भाषा में इस समास का प्रयोग दुर्लभ है । इस समास में पूर्व पद का अन्तिम पद जो कि स्वयं एक समास शब्द होता है लोप हो जाता है ।

तमस्काण्डैः	—भ० का० IX.66	तमः सवर्णाः काण्डास्तमस्काण्डाः तैः
लतामृगम्	—भ० का० IX.128	लताचारी मृगो लतामृगस्तं
चिन्तामणि	—भ० का० X.35	चिन्तापूरकां मणि
कालरात्रि	—भ० का० 14.43	काल प्रयुक्ता रात्री

भट्टि काव्य में अव्यवस्थित समास के भी बहुत से उदाहरण पाए जाते हैं। पाणिनि इन्हें "मयूरव्यंसकादि" श्रेणी में रखता है।[1]

अवश्यपाव्यम् —भ० का० 6.65 अवश्यमेत पाव्यम्

अश्नीतपिबतीयन्ती—भ० का० 5.92 अश्नीत पिबतेत्येवं सततं यस्याम्

आहोपुरुषिकाम्—भ० का० 5.27 आहोपुरुष इति यस्यां क्रियायां सा आहोपुरुषिका

रूपक समास

भट्टि काव्य के टीकाकारों ने काव्य में प्रयुक्त कुछ शब्दों को रूपक समास का नाम दिया है जो कि वैदिक भाषा में भी नहीं मिलता तथा पाणिनि ने भी इस समास के लिए कोई नियम नहीं बनाया है। टीकाकारों के वर्णन के आधार पर यह भट्टिकाव्य में बहुधा प्रयुक्त है। एम० आर० काले इस विषय में कुछ वर्णन करते हैं। वह कर्मधारय समास तथा रूपक में रचना की दृष्टि से कोई भेद नहीं मानते। केवल कर्मधारय समास का विग्रह कुछ अलग तरह से होता है। दोनों समासों के अर्थ और भाव में कुछ भिन्नता है। कर्मधारय समास में प्रधानता उपमान की श्रेष्ठता बताने वाले शब्द को दी जाती है तथा उपमा वाचक शब्द भी विद्यमान रहता है। रूपक समास में उस वस्तु या व्यक्ति को प्रधानता हो जाती है जिससे तुलना की जाती है। भ० का० में उदाहरणों की "मयूरव्यसकादयश्च" सूत्र से व्याख्या की गई है।

विप्रवह्नि —भ० का० 1.23 विप्र एव वह्नि

तपोमरुद्भि: —भ० का० II.28 तपांसि एव मरुतः तपोमरुष: तैः

नृपरक्ततोयै: —भ० का० II.52 नृपरक्तानि एव तोयानि

दूसरे उदाहरण सामान्य रूप से रूपक समास के ही कहे जाते हैं।

शराऽग्नि —भ० का० II.28 शर एव अग्नि

अरिसमिन्धनेषु —भ० का० II.28 अरय एव समिन्धानि, तेषु

शोकाग्निना —भ० का० III.21 शोकः एव अग्निः, तेन

बहुव्रीहि समास

इस समास के भ० का० में असंख्य उदाहरण मिलते हैं। इस समास

---

1. अष्टाध्यायी, 2.1.72.

में दो या दो से अधिक शब्द संयुक्त होकर किसी अन्य पद की प्रधानता बताते हैं ।[1] रूप रचना की दृष्टि से तत्पुरुष और बहुव्रीहि एक जैसे हो सकते हैं पर उनका अर्थ प्रसंगानुसार ही निश्चित किया जा सकता है। वैदिक भाषा में इनका भेद उदात्त अनुदात्त स्वरों के अनुसार ही किया जाता है। तत्पुरुष में अन्तिम पद पर उदात्त होता है। जबकि बहुव्रीहि में प्रथम पद पर। भ० का० में दो प्रकार के बहुव्रीहि समासों के भेद किए जाते हैं।

समानाधिकरण बहुव्रीहि

इस समास में दोनों पदों की विभक्तियाँ समान होती हैं। व्यधिकरण बहुव्रीहि की अपेक्षा भ० का० में इस समास का प्रयोग अधिक है।

त्रिदशाः	—भ० का० I.2	त्रिस्रः दशाः येषां ते
पुण्यकीर्तिः	—भ० का० I.5	पुण्यकीर्तिः यस्य सः
शुद्धदत	—भ० का० 6.18	शुद्धाः दन्ताः यस्य सः
विनासा	—भ० का० 5.8	विगता नासा यस्याः सा

विनासा—भ० का० 5.8 के विषय में आपत्ति उठाई गई है। इसके अनुसार पाणिनीय सूत्र 5.4.119 पर वार्तिक के[2] अनुसार "वि पूर्वक नासिका शब्दान्त बहुव्रीहि में नासिका शब्द के स्थान में 'ग्र' आदेश होता है। अतः भ० का० में विनासा के स्थान पर 'विग्र' होना चाहिए। पा० सू० 5.4.118 के अनुसार "यदि नासिका शब्द स्थूल शब्द के बाद न आया हो तो नासिका शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त **अच्** प्रत्यय होता है तथा नासिका शब्द के स्थान में "नस्" आदेश भी हो जाता है।" संज्ञा विषय होने के कारण इसकी प्राप्ति ही नहीं है। भट्टो आदि से सम्मत पाठ होने के कारण "विगतानासिका विनासिका" होने से (प्रादि समास) हुआ उससे इत्थंभुत-लक्षणे से तृतीया विभक्ति होती है। विगतया नासिका पाणिनीय सूत्र[3] "शस् प्रभृति" प्रत्ययों के परे पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत, शकृत, उदक और आसन शब्दों के स्थान में क्रमशः पद्, दत्, नस्, मास, हृत, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन् तथा आसन् आदेश हो जाते हैं। "से नस् आदेश हुआ है।

1. अष्टाध्यायी, 2.2.24.
2. वही, 5.4.119 परवार्तिक "वग्रो वक्तव्य"।
3. वही 6.1.63.

समर्थ सुबन्त के साथ "नञ्" का बहुव्रीहि समास होता है ।[1] व्यंजन से पहले न् अ् में परिवर्तित हो जाता है तथा स्वर से पहले "अन्" में परिवर्तित होता है ।

अबलानाम् —भ० का० X.12 अविद्यमानं वलं यासां तासां
अनुत्तमाम् —भ० का० 8.46 अविद्यमाना उत्तमा यस्या
निर्भय: —भ० का० 5.11 निर्गतह् भयं यस्मात् स:

तुल्ययोग में वर्तमान "सह" शब्द का तृतीयान्त सुबन्त के साथ बहुव्रीहि समास होता है ।[2]

समन्युम् —भ० का० I.25 मन्युना सह विद्यमान: य:तम्
ससीत: —भ० का० 4.2 सीतया सहित:

भ० का० के 13 वें सर्ग में अन्यत्र भी कुछ दीर्घ समास पाए जाते हैं । पूरी पंक्ति ही बहुव्रीहि समास की पाई जाती है ।

अनविन्द रेणु पिंजरसारसख हारिविमलबहु चारुजलम् ।
रवि मणिसंभवहिमहरसमागभाबद्धबहु लसुरतरु धूपम् ।।

—भ० का० XIII 19

अरविन्दानाम् रेणुभि: पिंजरा ये सारसा तेषां खेण हरि विमलं बहु चारु जलं यस्मिन् तत् रवि मणिसंभव: यो हिमहर, तेन य: समागम: तेन आबद्ध: बहुल: सुर तरु धूवी यस्मिन् तत् ।

व्यधिकरण बहुव्रीहि

इस समास में सभी पदों की विभक्तियाँ समान नहीं होतीं । लौकिक संस्कृत में समस्त पद बनते समय विभवित का लोप कर दिया जाता है, पर वैदिक भाषा में विभक्ति का लोप बहुत से प्रयोगों में नहीं होता । इस समास के उदाहरण भ० का० में बहुत कम मिलते हैं ।

दशरथ: —भ० का० I.1 दशसु रथो यस्य स:
ऋष्यशृग: —भ० का० I.10 ऋष्यस्य इव शृंगं यस्य स:
धनुष्पाणि: —भ० का० 5.13 धनु: पाणौ यस्य स:

---

1. अष्टाध्यायी, 2.2.6.
2. वही, 2.2 28.

द्वन्द्व समास

भट्टि काव्य में इस समास का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। द्वन्द्व समास में "च" के द्वारा दो या दो से अधिक पदों को जोड़ा जाता है। भ० का० में दो प्रकार के द्वन्द्व समास के उदाहरण पाए जाते हैं—

इतरेतर द्वन्द्व तथा समाहार द्वन्द्व।

इतरेतर द्वन्द्व

इस समास का प्रत्येक पद अपनी अलग प्रधानता तथा अर्थ रखता है। शब्दों की संख्या अनुसार अन्तिम पद पर विभक्ति लगाई जाती है। पूरे समास का लिंग अन्तिम शब्द के अनुसार लगता है।[1]

शक्रयक्षेन्द्रौ —भ० का० 18.31 शक्रश्च, यज्ञश्च इन्द्रश्च
देवगन्धर्व किन्नरा: —भ० का० 5.107 देवा: च, गन्धर्वा: च, —किन्नरा: च

लौकिक संस्कृत में देवता द्वन्द्व समास में प्रथम पद का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। वैदिक भाषा में दोनों पदों के द्वितीया विभक्ति के प्रत्यय ज्यों के त्यों रहते हैं तथा उनका स्वर भी।

मित्रयोरवरुणयो:
मित्रावरुणा

वैदिक भाषा में इस देवता का द्वन्द्व समास के नाम से अनेक प्रयोग मिलते हैं पर लौकिक भाषा में केवल एक उदाहरण मिलता है।

मित्रावरुणौ —भ० का० II.41 मित्रश्च वरुणस्च

समाहार द्वन्द्व

इस समास के भ० का० में 21 उदाहरण पाए जाते हैं। दो समान पद समाहार को द्योतित करते हैं। इसका सर्वदा एक वचन, नपुंसकलिंग में प्रयोग होता है। यह समास शरीर के अंगों, सेना के शस्त्रों, विरोधी वस्तुओं के स्वभाव, वृक्षों के नाम, मृग, घास, अनाज, पक्षी तथा पक्षियों के जोड़ों के समाहार को द्योतित करता है।[2]

---

1. अष्टाध्यायी, 2.4.26.
2. वही 2.4.13.

अंगों का समाहार—

स्थिरबाहुमुष्टिः	—भ० का० II.31	बाहुश्च मुष्टिश्च
श्रोत्राक्षिनासावदनम्	—भ० का० III.35	श्रोत्रे च अक्षिणी च नाम वदनं च
वाक्त्वचन	—भ० का० 4.16	वाक् च त्वचाप

सेना के अंगों का समाहार—

अश्वीयराजन्यकहस्तिकादयम्—भ० का० II.49

अश्वीयम् च राजन्यक च हास्तिकम् च

रथाश्च वाजिनश्च मागाः च

रथवाजि नागैः —भ० का० III 45

विरोधी स्वभाव वाली वस्तुओं का समाहार—

नक्तन्दिवम्	—भ० का० 4.39	नक्तं च दिवं च
हिताऽहितम्	—भ० का० 8.82	हितं च अहितं च
पराऽपरम्	—भ० का० 8.113	परं च अपरं च

शत्रुता वाले प्राणियों का समाहार—

श्ववराहम	—भ० का० XII.33	श्वाश्च वराहश्च

निर्जीव वस्तुओं का समाहार—

पुष्पफलम्	—भ० का० 8.72	पुष्पं च फलं च
तरुर्वीधराम्	—भ० का० XII.53	तरवश्च उर्वीधराश्च

जंगली प्राणियों का समाहार—

वाजिकुंजरम्	—भ० का० 17.10	वाजिनश्च कुंजराश्च

पक्षियों का समाहार—

हंसकोकिलम्	—भ० का० 6.76	हंसश्च कोकिला च

अन्न का समाहार—

दधि क्षरिम्	—भ० का० 5.12	दधि च क्षीरम् च

अध्याय पंचम

सुबन्त

सुबन्त

भ० का० में शब्द रूपों में पूर्ण रूप से पाणिनीय नियमों का ही अनुसरण किया गया है। फिर भी भट्टि ने अपने काव्य में अपने पाण्डित्य तथा व्याकरण ज्ञान का विशेष परिचय दिया है और भाषा पर अपना पूर्ण अधिकार भी प्रदर्शित किया है। इसी कारण उसे अपने विचारों को व्यक्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती। भ० का० में से सुबन्त की अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ मिलती हैं। यथा—

भ० का० में सुबन्त के अजन्त प्रातिपदिक धर्म के दो रूप मिलते हैं।

धर्मम् भ० का० IX. 115 धर्म भ०का० II. 35

भ० का० में इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। पद् शब्द से कालान्तर में पाद बनकर भ० का० में पुंल्लिग पाद के ही रूप मिलते हैं।

पादौ —भ० का० IX. 97

नपुं० लिंग हलन्त प्रातिपदिक "वार" जल से विकसित इकारान्त प्रातिपदिक वारि केह भी भ० का० में नपुं० में ही प्रयोग मिलते हैं।

वारीणि —भ० का० X.23
वारीणाम् —भ० का० XIII.8

अप्सरस् हलन्त स्त्रीलिंग शब्द का प्रयोग कालान्तर में अप्सरा स्त्रीलिंग में होने लगा। परन्तु भ० का० में अप्सरस् शब्द का ही प्रयोग मिलता है।

अप्सरसाम —भ० का० I.7

अजन्त प्रातिपदिक

यह एक स्वीकृत तथ्य है कि संस्कृत भाषा के विकास काल में हलन्त प्रातिपदिकों से अजन्त प्रातिपदिक बनाने की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गई है। प्राचीनतम वैदिक भाषा में जो प्रातिपदिक केवल हलन्त थे उनके कुछ रूप

प्रारम्भ में अजन्त प्रातिपदिकों की भांति बनाए जाने लगे और कुछ समय तक भाषा में दोनों प्रकार के रूप साथ-साथ प्रयुक्त होते रहे। अजन्त प्रातिपदिकों के रूपों ने धीरे-धीरे अपना पूर्ण आधिपत्य जमाकर हलन्त प्रातिपदिकों को कालान्तर में भाषा में पूर्णतया निकाल दिया और समास आदि में कहीं कहीं प्राचीन हलन्त प्रातिपदिकों के अवशेष रह गए।[1] उदाहरण के लिए हलन्त "धर्मन्" धारण करने वाला "पु तथा धर्मन्" नपुं० के रूप ऋ० में मिलते हैं अकारान्त प्रातिपदिक धर्म के प्रयोग नहीं हैं। अथर्ववेद में अजन्त प्रातिपदिक धर्म का प्रयोग मिलता है और इसके समानार्थक हलन्त प्रातिपदिक का प्रयोग धीरे-धीरे लुप्त हो गया। पाणिनि के काल तक इस हलन्त प्रातिपदिक का प्रयोग इतना न्यून हो गया कि बहुव्रीहि समास में हलन्त प्रातिपदिक धर्मन् अजन्त पातिपदिक धर्म का आदेश माना जाने लगा।"[2]

अकारान्त शब्द

भट्टिकाव्य में अकारान्त शब्दों का वर्ग सबसे अधिक संख्या वाला है। तथा इस वर्ग के रूप केवल पु० तथा नपुं० लिंग में बनते हैं। स्त्री० में इनसे प्रायः आकारान्त प्रातिपदिक बनकर रूप चलाए जाते हैं। पु० तथा नपुं० के रूप केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तियों में ही भिन्न हैं। ये शब्द रूप कुछ विशिष्ट लक्षणों से समन्वित हैं तथा इन पर सार्वनामिक शब्द रूपों का प्रभाव अधिक पड़ा है। तृतीया विभक्ति चिह्न का एन उसी स्रोत से लिया गया है।

अकारान्त शब्द रूपों में प्रथमा तथा द्वितीया एक व० में नपुं० लिंग के साथ प्रयुक्त विभक्ति का अम् बन जाता है।[3]

यथा—

जलम्	—भ० का० II.19
षट्पदम्	—भ० का० II.19
कलम्	—भ० का० II 19
गुञ्जितम्	—भ० का० II.19

---

1. वैदिक व्याकरण, पृ० 282-83.
2. अष्टाध्यायी, 7.1.24.
3. वही, 7.1.19.

अदन्त नपुं० लिग शब्दों से औ, और के स्थान में (शी) (इ) आदेश होता है। पुंल्लिग में औ हो जाता है।

अमूढौ	—भ० का० 5.3
द्विषौ	—भ० का० 5.3
क्षितिपालपुत्रौ	—भ० का० 5.3

ऋग्वेद में "औ" विभक्ति वाले द्वि० व० रूपों की तुलना में आ विभक्ति वाले रूपों का प्रयोग 7 गुणा से भी ज्यादा है।[1] प्र० बहु० व० में भ० का० में अस् विभक्ति प्रयुक्त होती है।[2]

तप: कृशा:—भ०का० II.20	शान्त्युदकहस्ता:—भ०का० II.20
यायजुका: —भ०का० II.20	यायावरा: —भ०का० II.20

असस् विभक्ति वाले रूपों की तुलना में अस् विभक्ति वाले रूपों का प्रयोग ऋ० वे० में दुगुना और अथर्ववेद में 24 गुना है।[3]

प्र० द्वि० बहु० व० में नपुं० लिग में रूपों के सर्वनाम स्थान विभक्ति शि (3) परे रहने पर नुम् आगम होता है।[4]

वनानि	—भ० का० II.5
तोयानि	—भ० का० II.5

वैदिक भाषा में कहीं-कहीं विभक्ति तथा न् आगम का लोप हो जाता है और केवल आकारान्त रूप शेष बचता है।[5] ऋ० में आ अन्त वाले रूप—आनि अन्त वाले रूपों से ड्यौढ़े हैं। परन्तु अ० वे० में अनि अन्त वाले प्रयोग आ अन्त वाले प्रयोगों से ड्यौढ़े हैं और उत्तरकालीन संस्कृत में—आ अन्त वाले प्रयोगों का पूर्ण लोप हो गया। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार —अन् अन्त वाले नपुं० रूपों के प्रभाव से—आनि अन्त वाले अन्य रूपों का प्रादुर्भाव हुआ।[6]

1. वैदिक व्याकरण, पृ० 268.
2. अष्टाध्यायी, 7.1.50.
3. वैदिक व्याकरण, पृ० 286.
4. अष्टाध्यायी, 7.1.72.
5. वही, 6.1.70.
6. वैदिक व्याकरण, पृ० 286.

भ० का० में द्वि० ब० पु० में अक् से परे शत् (अस्) होने पर पूर्व सर्वर्ण दीर्घ होकर शस् के "स्" को "न्" हो जाता है।[1]

आत्मकृतान् —भ० का II.9
मृगेन्द्रनादान् —भ० का० II.9
प्रचितान् —भ० का० II.14
गोष्ठान् —भ० का० II.14

अदन्त अंग से परे टा, ङसि, ङस् के स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य ये आदेश हो जाते हैं।[2]

कृतान्तेन —भ० का० 4.3
बलात् —भ० का० 4.2
सौभागिनेयस्य —भ० का० 4.35

वैदिक भाषा में तृ० ए० व० के कुछ रूपों में आ विभक्ति का प्रयोग मिलता है। यथा—प्रिया। लगभग 25 रूपों में इन विभक्तियों का अकार दीर्घ मिलता है। यथा—अभृतेना[3] भ० का० में अदन्त अंग से परे भिस् को ऐस् आदेश होता है।[4]

पात्रेसत्रितैः —भ० का० 5.11
शिलीमुखैः —भ० का० 5.13
धामैः —भ० का० 6.80

ऋ० में ऐस् विभक्ति वाले रूप भिस् विभक्ति वाले रूपों से कुछ अधिक हैं। परन्तु अथर्व वेद में इनका प्रयोग पाँच गुना तथा उत्तरकालीन संस्कृत में भिस् विभक्ति के रूपों का पूर्ण अभाव है।[5]

भ० का० में अदन्त अंग से परे ङे के स्थान में "य" आदेश होता है।[6]

देवकार्यविधाताय —भ० का० 6.67
निजाय —भ० का० 6.70

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.103.
2. वही, 7.1.12.
3. वैदिक व्याकरण, पृ० 287.
4. अष्टाध्यायी, 7.1.9.
5. वैदिक व्याकरण, पृ० 287.
6. अष्टाध्यायी, 7.2.18.

भ० का० में झलादि बहु० व० परे रहते अदन्त अंग को (ए) "आदेश होता है। "ओस्' परे रहते भी "ए" होता है ।[1]

वैरायमाणेभ्यः	—भ० का० 5.75
सदृशयोः	—भ० का० 7.5
सुरतेषु	—भ० का० 5.68

भ० का० में ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अंग से परे आम् को नुट् आगम होता है ।[2] तथा नाम् से पूर्व अंग के अन्तिम ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है ।[3]

इन्द्रियार्थानाम्	—भ० का० 5.20
पितॄणाम्	—भ० का० 6.64
क्रौंचानाम्	—भ० का० 7.14
सत्यानाम्	—भ० का० 72

भ० का० में सम्बुद्धि में विभक्ति के स् का लोप हो जाता है ।[4]

राक्षस	—भ० का० II. 35
राम	—भ० का० II. 52

भ०का० में च० ए० की विभक्ति य तथा तृ० च० प० द्विवचन की विभक्ति "भ्याम्" से पूर्व अंग के अन्तिम अ का दीर्घ हो जाता है ।[5]

वधाय	—भ० का० II.22
तृणाय	—भ० का० II. 36
मेध्याभ्याम्	—भ० का० XIX.12

आकारान्त प्रातिपदिक

आकारान्त प्रातिपदिकों में से भ० का० में स्त्री वाचक आकारान्त शब्दों का ही अधिक प्रयोग है । धात्वन्त आकारान्त प्रातिपदिकों का प्रयोग भ० का० में दुर्लभ है ।

---

1. अष्टाध्यायी, 7.3, 103, 104.
2. वही, 7.1.54.
3. वही, 6.4.3.
4. वही, 6.1.67.
5. वही, 7.3.102.

भ० का० में हलन्त, ङ्यन्त, आबन्त शब्दों से सु, ति-सि सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप हो जाता है ।[1]

वरांगना —भ० का० 1.10

भ० का० में टा तथा ओस् विभक्ति परे होने पर आबन्त अंग के आप् को "ए" हो जाता है ।[2]

असूर्यम्पश्यया —भ० का० 6.99

सामर्षतया —भ० का० II 3

भ० का० में सम्बुद्धि में अन्तिम आ का ए बन जाता है ।[3]

मृगेक्षणे —भ० का० 8.76

भ० का० में आबन्त अंग से परे ङ् कण्रेत् सुब् विभक्ति को याट् आगम होता है ।[4]

पर्णशालायाम् —भ० का० 4.7

कृत्सनायाम् —भ० का० 6.109

भ० का० में स० ए० की विभक्ति को आम् आदेश हो जाता है ।[5]

वसुन्धरायाम् —भ० का० 6.109

ऋ० के लगभग 20 स्त्री० रूपों में प्रथम बहु० के विशेष वैदिक प्रत्यय असस् का प्रयोग मिलता है, यथा अतन्द्रासः । अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार कतिपय रूपों में स० ए० की विभक्ति का पूर्ण लोप हो जाता है और केवल आकारान्त रूप मिलता है । यथा—

गुहो, दोषा । परन्तु बहुत से आधुनिक विद्वानों का मत है कि ये तृ० ए० के रूप हैं और स० ए० में आकारान्त प्रातिपदिकों का ऐसा कोई रूप नहीं मिलता ।[6] धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों के बहुत कम रूप भ०का०

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.68.
2. वही, 7.3.105.
3. वही, 7.3.106.
4. वही, 7.3.113.
5. वही, 7.3.116.
6. वैदिक व्याकरण, पृ० 289-290.

में मिलते हैं। इसके नपुं० लिग में रूप नहीं मिलते। केवल पुंलिग और स्त्रीलिग में रूप बनते हैं।

वंशवदाम् भ०का० 4.20 अपालाम्—भ०का० 5.66 क्षपाटनाम्—भ०का० 5.64

महेन्द्रलोकप्रतिमाम्	—भ०का० I 5
निष्ठाम्	—भ०का० I.13
गोष्ठान्	—भ०का० II.14

इकारान्त तथा उकारान्त शब्द

भट्टि काव्य में इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों की विस्तृत संख्या है। इनमें से अधिकतर रूप पुंलिग तथा स्त्रीलिग में मिलते हैं। नपु० लिग में रूप कम मिलते हैं।

पु० तथा स्त्री० के प्रथमा द्वितीया द्वि० वचन में प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर तथा विभक्ति के स्वर दोनों के स्थान पर पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घ हो जाता है।[1]

निराकरिष्णू	—भ० का० 5.1
वर्तिष्णू	—भ० का० 5.1

पु० में विभक्ति के अन्तिम स् का न् बन जाता है।[2]

प्रतिध्वनीन्	—भ० का० II 9
पशून्	—भ० का० 7.50
बहून्	—भ० का० 8 27
पतीन्	—भ० का० 14.6
शारीन्	—भ० का० 14 11

नपु० लिग प्रातिपदिकों से परे प्रथमा द्वितीया एक वचन की विभक्ति का लोप हो जाता है।[3]

द्रोहि	—भ० का० 7.6
खद्योतसम्पर्कि	—भ० का० 7.6

1. अष्टाध्यायी, 6.1.102.
2. वही, 6.1.103.
3. वही, 6.4.8.

तथा बहुवचन की विभक्ति से पूर्व अंग को न् का आगम होता है और उसके बाद अंग के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है।[1]

वसूनि —भ० का० 8.74

वैदिक भाषा में प्रथमा, द्वि० बहु० के कुछ रूपों में अंग के अन्तिम स्वर का दीर्घ होने के बाद ण् आगम सहित विभक्ति 'इ' अर्थात् नि का लोप हो जाता है और कहीं न् आगम से पूर्व ही विभक्ति का लोप हो जाता है।[2]

शुची, भूरि, वसू, मधू।

भ० का० में पु० तथा नपु० लिंग के तृ० ए० वचन के रूपों में साधारणतया विभक्ति का ना बनता है।[3]

त्रस्नुना —भ० का० 5.31
विंशति बाहुना —भ० का० 5.104
संज्वारिणा —भ० का० 7.6

ऋ० में कुछ स्थानों पर विभक्ति का ना नहीं बनता अविकृत रूप आ जोड़ा जाता है—शुच्या, मध्वा।[4] एङ् से परे ङसि और ङस् के 'अ' तथा एङ् दोनों के स्थान में पूर्व रूप एकादेश एङ् ही हो जाता है।[5] यथा—

वायो: —भ० का० 8.8
भेरो: —भ० का० 7.107
अद्रे: —भ० का० 8.50
हेतो: —भ० का० 8.103

भ० का० में सम्बुद्धि में इकारान्त तथा उकारान्त पु० स्त्री० प्रातिपदिकों के अन्तिम स्वर को गुण हो जाता है।[6]

सुद्बुद्धे —भ० का० 5.4

---

1. अष्टाध्यायी, 7.1.72.
2. वैदिक व्याकरण, पृ० 295.
3. अष्टाध्यायी, 7.3.120.
4. वैदिक व्याकरण, पृ० 296.
5. अष्टाध्यायी, 6.1.110.
6. वही, 7.3.119.

दाशरथे ! —भ० का० II.34

—भ० का० IX.113

—भ० का० IX.63

घि संज्ञक इ, उ से परे ङि० के स्थान में 'औ' आदेश होता है और साथ ही इ, उ को अतः आदेश होता है।[1]

क्षितौ —भ० का० XII.3

रात्रौ —भ० का० 8.26

वैदिक भाषा में कुल स्थानों पर इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों को गुण नहीं होता है।[2]

तथा स० ए० में बहुत से रूपों में इ के स्थान पर अ का प्रयोग होता है और अंग के अन्तिम स्वर का लोप हो जाता है।[3]

कुछ इकारान्त स्त्री: प्रातिपदिकों में सं० ए० में ईकारान्त स्त्री, प्रातिपदिकों की भाँति आम विभक्ति जाती है।[4]

कुछ उकारान्त प्र० तथा नपु० प्रतिपदिकों के स० ए० रूप में अंग के अन्तिम स्वर को गुण हो जाने पर इ विभक्ति जोड़ी जाती है।[5]

ईकारान्त प्रातिपदिक

भट्टि काव्य में ईकारान्त शब्दों की संख्या अधिक है।

श्नु प्रत्ययान्त अंग, इवर्ण उवर्णान्त धातु तथा भू इस अंग को इयङ् उवङ् आदेश होते हैं, अजादि प्रत्यय परे रहते।[6] धात्ववयव—संयोग पूर्व नहीं है जिस धातु के इकार से, तदन्त अनेकाच् अंग को यण् होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर।[7] लेकिन सुधी शब्द के ई को यण् नहीं होता।[8] अतः

---

1. अष्टाध्यायी, 7.3.119.
2. वैदिक व्याकरण, पृ० 297.
3. वही, पृ० 298.
4. वही।
5. वही।
6. अष्टाध्यायी, 6.4.77.
7. वही, 6.4.82.
8. वही, 6.4 85.

इयङ् आदेश होता है । भ० का० में इस शब्द के दो रूप मिलते हैं ।

सुधी: —भ० का० 12.6

सुधियः —भ० का० 12.25

भ० का० मे ङ्यन्त प्रातिपदिकों से परे आने वाले प्रय, ए० स् का लोप हो जाता है ।[1]

विभावरी —भ० का० 13.1

एकाकिनी —भ० का० 5.66

वैदिक भाषा में 56 रूप ऐसे हैं जिनमें स् का लोप नहीं हुआ है । तथा कुछ ङ्यन्त प्रातिपदिकों से परे भी स् का लोप नहीं होता है ।[2]

भ० का० में द्वितीय ए० की अम् विभक्ति का अकार प्रायेण अंग के अन्तिम ई में विलीन हो जाता है ।[3]

सायन्तनीम् —भ० का० 5.65

लक्ष्मीम् —भ० का० II.8

दिवातनीम् —भ० का० 5.65

कांचनीम् —भ० का० 7.93

महाकुलीम् —भ० का० 7.80

भ० का० में दिती० ब० के रूपों में सर्वत्र शस् विभक्ति (अस्) का अकार अंग के अन्तिम ई में विलीन हो जाता है ।[4]

लेकिन कुछ प्रातिपदिकों में अस् का पूर्व रूप नहीं होता ।

नद्य: —भ० का० 17.63

भ० का० में अजादि प्रत्यय परे रहते संयुक्त व्यंजन के बाद ईकार होने पर ई के स्थान पर इयङ् आदेश हो जाता है । लेकिन संयुक्त व्यंजन पूर्व न होने पर ई का यण् होता है ।[5]

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.68.
2. वैदिक व्याकरण, पृ० 304.
3. अष्टाध्यायी, 6.1.107.
4. वही, 6.1.102.
5. वही, 6.4.82.

श्रियम् —भ० का० 8.50

श्रिया —भ० का० 7.104

धिया —भ० का० XII.81

सुदातन्या —भ० का० 5.65

मैथिल्या —भ० का० 8.36

कुछ वैदिक प्रयोगों में सुधी के ई को इय् और कहीं-कहीं य् आदेश होता है।[1] लेकिन भ० काव्य में केवल इयङ् आदेश होता है।

सुधियः —भ० का० XII.25

सम्बुद्धि में ईकारान्त अंग के अन्तिम स्वर का ह्रस्व हो जाता है।[2]

नक्तंचरि —भ० का० 6.23

कूपमाण्डूकि —भ० का० 5.85

अकारान्त प्रातिपदिकों में से केवल 'भू' धातु का एक रूप भ० का० में मिलता है।

भुवि —भ० का० 4.3

ऋकारान्त प्रातिपदिक

भट्टि काव्य में ऋकारान्त प्रातिपदिक पुंलिंग में ही अधिक मिलते हैं।

पितृ, नृ, भर्तृ, भ्रातृ

स्त्रीलिंग में

भ० का० में मातृ तथा स्वसृ शब्दों के रूप मिलते हैं।

पितृ शब्द ष, ब में आम् को न् का आगम होकर नाम् बना है तथा उससे पूर्व अंग के अन्तिम ऋ का दीर्घ हुआ है।[3]

पितृणाम् —भ० का० 6.64

एक रूप पित्रा —भ० का० 8.8 मिलता है।

भ० का० में नृ शब्द का तृतीया बहु वचन में

1. अष्टाध्यायी, 6.4.86.
2. वही, 7.3.103.
3. वही, 6.4.3.

नृभिः —भ० का० 14.46 मिलता है ।

भ० का० में भ्रातृ शब्द का भ्रात्रोः 4.34 तथा भर्तृ शब्द का

भर्तुः —भ० का० 7.123 मिलता है ।

भ० का० में पं० प० ए० अंग के अन्तिम ऋ तथा अस् के अ के स्थान पर उ होने से उस् विभक्ति बन जाती है ।[1]

मातुः श्वसुः —भ० का० IX 80

ओकारान्त शब्द रूपों में भट्टि काव्य में केवल 'द्यो' के दो तीन रूप मिलते हैं ।

द्याम् —भ० का० 8.18 तथा ओकारान्त 'नो' का रूप मिलता है ।

द्यौ —भ० का० III.19 (2.37)

हलन्त प्रातिपदिक

हलन्त प्रातिपदिकों की भ० का० में बहुत कम विशेषताएं उपलब्ध होती हैं । वास्तव में प्राचीन साहित्य में भी हलन्त प्रातिपदिकों की बहुत विशेषताएं नहीं मिलतीं । क्योंकि हलन्त शब्दों से परे सुप् विभक्तियाँ अनादिष्ट रूप से आती हैं । कुछ विभक्तियों को छोड़कर अन्य को कोई आदेश नहीं होगा । सुप् के स् को सप्तमी बहु वचन में यथाप्राप्त ष होता है वैदिक भाषा में प्राप्त हलन्त प्रातिपदिकों की कुछ विशेषताओं ने वैदिक शब्दों रूपों को लौकिक शब्द रूपों से भिन्न कर दिया है । हलन्त प्रातिपदिकों के समान व्यंजनान्त वाले रूप स्त्रीलिंग तथा पुलिंग में एक जैसे बनते हैं तथा नपुंसकलिंग के रूप प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तियों में अलग बनते हैं । अन्य विभक्तियों में पुलिंग तथा स्त्री, के समान बनते हैं ।

क वर्गीय प्रातिपदिक

भ० का० मे क वर्गीय प्रातिपदिक का कोई उदाहरण नहीं मिलता । मैक्डानल के अनुसार भी कोई क वर्गीय हलन्त प्रातिपदिक भाषा में नहीं मिलता है, क्योंकि प्रातिपदिकान्त क वर्गीय वर्ण उत्तर कालीन तालव्य ध्वनियों में परिणत हो गये थे ।

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.111.

च वर्गीय प्रातिपदिक

भ० का० अधिकतर च वर्गीय प्रातिपदिकों को क वर्ग आदेश हुआ है झल् प्रत्याहार परे होने पर।[1] जैसे—

वणिक् —भ० का० 7.49
बालधि भाक् —भ० का० XII.20
देवभाक् — भ० का० 6.65
रामर्त्विक् —भ० का० 6.118
पंक भाक् —भ० का० X.73

जिस धातु से क्तिन् प्रत्यय देखा गया है उसे सूत्र में क्विन् प्रत्यय कहा गया है। उस धातु रूप पद के अन्त्य अल् को कवर्गादेश होता है।[2]

प्रत्यक् —भ० का० 14.16

भ० का० में उगित अंगों को तथा न लोपी अंच् धातु को नुम् आगम होता है, जब वे अंग धातु भिन्न हों।[3]

लुप्त नकार भ संज्ञक अंच् के 'अ' का लोप हो जाता है।[4]

भ० का० में लुप्त नकार अकार अंच परे रहने अण को दीर्घ होता है।[5]

प्रांचि —भ० का० II.12
देहभांजि —भ० का० 14.59

यह सामान्य संधि नियम के अनुसार परिवर्तन हुआ है।

जलमुच: —भ० का० X 56
वाच: —भ० का० 8.29
शुचम् —भ० का० 8.57
शुचा —भ० का० IX.55

---

1. अष्टाध्यायी, 8.2.30.
2. वही, 8.2.62.
3. वही, 7.1.70.
4. वही, 6.4.138.
5. वही, 6.3.138.

वाचा	—म० का० 14.63
मिषजाम्	—म० का० XII.82
तरुत्वचो	—म० का० 4.10

इस वर्ग के अनेक शब्द म० का० में एक ही विधि से निर्मित हैं।

शुचा	—म० का० IX.55
वाचा	—म० का० 14.63
वाच:	—म० क० 8.29

म० का० में अनेक चवर्गीय शब्दों में न् का आगम हुआ है झल् परे रहने पर।[1]

प्रांचि	— म० का० II.12
देहमांजि	— म० का० 14.59
युङ्	—म० का० 6.119
क्रौचानाम्	—भ० का० 7.14

इकारान्त प्रातिपदिक म० का० में नहीं मिलते हैं।

न कारान्त प्रातिपदिक म० का० में अधिक संख्या में मिलते है।

वणिक्	—म० क० 7.49
पंकभाक्	—म० का० X.73
मिषजाम्	—भ० का० XII.82
सुगन्धिस्रक्	—म० का० 5.90
देवभाक्	—भ० का० 6.65
दूरभाक्	—म० का० 6.123
रामत्विकंक्	—म० का० 6.118

म० का० में युज् को सर्वनाम स्थान परे होने पर नुम् होता है, समास में नहीं।[2]

युङ्	—म० का० 6.119

भट्टि काव्य में कोई टकारान्त प्रातिपदिक नहीं मिलता है। वैदिक

---

1. अष्टाध्यायी, 7.1.70.
2. वही, 7.1 71.

भाषा में भी ऐसा कोई प्रातिपदिक टवर्गान्त नहीं मिलता जो असन्दिग्ध हो ।[1]

त कारान्त प्रातिपदिक

त कारान्त प्रातिपदिकों के भ० का० में बहुत से शब्द उपलब्ध हैं। जिनमें से अधिकतर समास में उत्तर पद में प्रयुक्त हैं यथा—

अग्निचित्	—भ० का० 6.137	जगन्ति	—भ० का० IX.37
सोमसुत्	—भ० का० 6.137	इन्द्रजित्	—भ० का० IX.51
सुकृताम्	—भ० का० 6.130	मृधृतम्	—भ० का० X.21
सुहृत्	—भ० का० 8.14	सरिताम्	—भ० का० 7.106
मरुत्	—भ० का० IX.2	धनुर्भृताम्	—भ० का० IX.137
जगत्	—भ० का० IX.21	द्विषताम्	—भ० का० IX.3
जगति	—भ० का० IX.105		

पथिन् प्रातिपदिकों में से केवल एक रूप भ० का० में मिलता है।

पथ:	—भ० का० 8.31
पथि	—भ० का० II.50

दकारान्त धातुज् प्रातिपदिका भ० का० में 5 रूप मिलते हैं।

गोत्रभित्	—भ० का० 5.28	सुपाद	—भ० का० 4.17
बलभिद	—भ० का० 18.11		

धकारान्त प्रातिपदिक भ० का० में उपलब्ध नहीं है।

नकारान्त प्रातिपदिकों में भट्टि काव्य में ये रूप मिलते हैं।[2]

प्रलापिन:	—भ० का० 7.12
प्रमाथिन:	—भ० का० 7.12
शशिना	—भ० का० 7.107
वर्त्मनि	—भ० का० X.78
आत्मानम्	—भ० का० 7.80

पकारान्त प्रातिपदिक

इनमें से केवल एक अप्: शब्द का रूप मिलता है।

---

1. वैदिक व्याकरण, पृ० 229.
2. अष्टाध्यायी, 7.4.48.

अप् के प् को त् आदेश होता है भकारादि प्रत्यय परे होने पर । इसका नित्य स्त्रीलिंग में बहुवचन में प्रयोग होता है ।

अर्वदम्: —भ० का० 14.50

रेफान्त प्रातिपदिक

भ० का० में केवल 2 रेफान्त प्रातिपदिक मिलते हैं पुर् ।
रेफ—वकारान्त जो प्रातिपदिक हो उसकी उपधाइक् को दीर्घ होता है ।[1]

पूः —भ० का० III.19

पुनः X.21 पुरम् II.34 इसके अन्य दो रूप मिलते हैं ।

अहः —भ० का० 7.81
अह्नः —भ० का० 7.45

पा० अहर् को अहन् नकारान्त प्रातिपदिक का रूप मानता है ।
वकारान्त प्रातिपदिक में केवल दिव् शब्द के दो रूप मिलते हैं ।

दिवः —भ० का० II 38
दिवम् —भ० का० 7.3

शकारान्त प्रातिपदिक

भ० का० में शकारान्त प्रातिपदिक बहुत मिलते हैं ।

यादृक् —भ० का० IX.116
किदृक् —भ० का० IX.120
तादृक् —भ० का० 17.37
किदृशभ् —भ० का० IX.123
भवादृश —भ० का० 17.92

षकारान्त प्रातिपदिक

षकारान्त प्रातिपदिकों में द्विष्, शब्दों के रूप मिलते हैं ।[2]

द्विषौ —भ० का० 5.3 द्विषाम् भ० का० IX.47
द्विषः —भ० का० 7.99
उषुषां —भ० का० 6 138

---

1. अष्टाध्यायी, 8.2.76.
2. वही, 8.2. 68, 69.

सकारान्त प्रातिपदिक

भ० का० में सकारान्त प्रातिपदिकों का बहुलता से प्रयोग है।

अयसः	—भ०का० XII.40	श्वश्रेयसम्	—भ०का० 4.38
चेतसि	—भ०का० IX.45	रक्षसा	—भ०का० 4.2
सदसि	—भ०का० IX.137	उरसि	—भ०का० XI.8
अम्भसाम्	—भ०का० 7.10	चेतसि	—भ०का० XI.28
यशांसि	—भ०का० II.40	मनः	—भ०का० 6.145
अम्भांसि	—भ०का० II.10	श्रेयसि	—भ०का० II.22
रक्षः	—भ०का० II.36	वयः	—भ०का० 8.21
शिरः	—भ०का० IX.40	पयः	—भ०का० 7.106
चन्द्रमसा	—भ०का० 8.100	मनसा	—भ०का० 8.126
मनोभिः	—भ०का० IX.27	सरसाम्	—भ०का० X.4

शत्रन्त प्रातिपदिक

शत्रन्त प्रातिपदिकों के रूप भ०का० में पुं० तथा नपुं० लिंग में बनते हैं। स्त्रीलिंग में इन प्रातिपदिकों के आगे ङीप् प्रत्यय जोड़कर रूप बनाए गए हैं। प्रथमा, द्वितीया के अतिरिक्त सभी विभक्तियों में पुं० तथा नपुं० के रूप समान बनते हैं।

कुर्वन्तः	—भ०का० 7.37	बिभ्यतीम्	—भ०का० 8 78
आलोचयन्तम्	—भ०का० 7.40	स्वादयन्तः	—भ०का० 7.40
ध्यायन्ती	—भ०का० 7.44	हसन्ती	—भ०का० 7.67

वान्, मान् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक

मत्, वत् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों में सर्वनाम प्रत्यय परे होने पर नुम् का आगम हो जाता है।[1] तथा प्रथमा ए०व० पुलिंग में उपधा का "अ" दीर्घ हो जाता है।[2]

उदन्वान्	—भ०का० 8.6	मरुत्वान्	—भ०का० X.19
हनुमान	—भ०का० X.19	जृम्भावान्	—भ०का० X 75
नमस्वन्तः	—भ०का० 17.74	तनुत्रवान्	—भ०का० 4.10

1. अष्टाध्यायी, 7.1.70.
2. वही, 6.4.40.

अतः अन्त वाले प्रातिपदिकों में भ० का० में महत् धीमत् आदि शब्दों के रूप मिलते हैं।

महान्	—भ० का० 7.19
धीमान्	—भ० का० 4.1

इन् अन्त वाले प्रातिपदिकों में भट्टि काव्य में अधिकतर रूप पुं० में ही मिलते हैं—

कामिनः	—भ० का० 8.33	शिखिनः	—भ० का० 7.8
वन्दिनः	—भ० का० 17.8	शशिना	—भ० का० 7.10

भ० का० में प्र० एक० पुं० में इनन्त प्रातिपदिकों की उपधा का इ दीर्घ हो जाता है तथा अन्तिम न् का लोप हो जाता है।[1]

पक्षी	—भ० का० 7.11

तर्, तम्, ईयसुन् ईष्ठ प्रत्ययान्त प्रातिपदिक

इनमें से भट्टि काव्य में तम् प्रत्ययान्त एक रूप मिलता है।

वृद्धतम्	—भ० का० II.44

इयसुन् प्रत्ययान्त में एकरूप "कनीयान्" भ० का० III.51 मिलता है ईष्ठन् प्रत्ययान्त कई रूप भ० का० में मिलते हैं।

वरिष्ठः	—भ० का० I.15

बंहिष्ठम्, वन्दिष्ठम्, श्रेष्ठम्, गरिष्ठम् वरिष्ठम्, II.45

क्त प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के भी रूप भट्टि काव्य में बड़ी संख्या में मिलते हैं।

शयितं, भुक्तं, जल्पितं, हसितम्, स्थितम्, भ० का० 8.125

सन् प्रत्ययान्त शब्द भी भ० का० में बहुत अधिक मिलते हैं।

बुभुक्षुणा, सिसंग्रामयिषुः	—भ०का० III.47

विनि प्रत्ययान्त शब्दों के तीन रूप भ० का० में मिलते हैं—

स्रग्विणम्	—भ० का० XIX.12
स्रग्विणी	—भ० का० 4.18
परिदेविनी	—भ० का० 5.53

1. अष्टाध्यायी, 6.4.13, 8.2.7.

इमनिच प्रत्ययान्त रूप भ० का० में पुलिंग में मिलते हैं—

महिमा	—भ० का० X.62
लघिम्ना	—भ० का० III.7
कृष्णिमानम्	—भ० का० 5.88
प्रथिमान	—भ० का० 4.17

भट्टिकाव्य में संख्यावाचक शब्द

भट्टिकाव्य में संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग विशेषणों के समान ही हुआ है। लेकिन एक, द्वि, त्रि, चतुर, का तीनों लिगों में प्रयोग होता है। इनका लिंग शब्दों के अनुसार निर्धारित होता है।

तीनों लिगों में "एक" शब्द का प्रयोग वचन में ही होता है।

एकेन बहव: शुरा:	—भ० का० IX.46
एकम् आसनम्	—भ० का० II.46
एवैक: सुखायते	—भ० का० 5.74

द्वि शब्द का प्रयोग द्विवचन में ही होता है। इसका अन्तिम इ "अ" में परिवर्तित हो जाता है।[1]

द्वाभ्याम्	—भ० का० IX.124
दवे सहस्रे	—भ० का० 15.69
लक्षे च द्वे	—भ० का० 17 68

चालीस संख्या के लिए भ० का० में विंशति के साथ "द्वि" का प्रयोग किया गया है।

द्विविंशतिभि: —भ० का० 17.40

बहुव्रीहि समास में अशीति शब्दात्मक उत्तरपद को छोड़कर संख्यावाचक उत्तरपद के परे द्वि तथा अष्टन् शब्दों को आत्व होता है।

इस नियम के अनुसार संख्यावाचक विंशति परे होने पर द्वि को द्वा आदेश होना चाहिए, लेकिन यहाँ भ० का० में इसमें बहुव्रीहि समास दिखाकर द्वि ही किया गया है 'द्वे विंशति येषां ते द्विविंशतयस्तै:'।

—भ०का० 17.40

---

1. अष्टाध्यायी, 7.2.102.

त्रि का प्रयोग भ० का० में बहुवचन के लिए हुआ है। पु० तथा नपुंसकलिंग में "त्रि" के रूप इकारान्त प्रातिपदिक की तरह चलते हैं। स्त्रीलिंग में त्रि का तिसृ बन जाता है। भ० का० में निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

त्रिशतमम्	—भ० का० 7.89
त्रिधा	—भ० का० 17.91
	—भ० का० I.2
तिसृषु	—भ० का० I.9

चतुर् शब्द का भ० का० में केवल एक रूप ही मिलता है—

चतुरः	—भ० का० I.13

पंच शब्द का प्रयोग भ० का० में विंशति के साथ 100 संख्या को दिखाने के लिए हुआ है। इसमें भी बहुव्रीहि समास का प्रयोग हुआ है। केवल दो ही प्रयोग मिलते हैं।

पंचविंशतिभिः	—भ०का० 17.41
एतानि वदन्ति	—भ०का० XII 62

अन्य संख्यावाचक शब्दों के रूप भ० का० में इस प्रकार मिलते हैं।

चतुर्दश	—भ०का० XII.56
सप्तषष्टि कोटि	—भ०का० 15 98
त्रिशतमम्	—भ०का० 7.89
त्रिदशद्विषः	—भ०का० IX 97
शतसाह्लसं	—भ०का० 8.37
अशीति सहस्राणि	—भ०का० IX 3
त्रिदशैः	—भ०का० IX.3
त्रिदशैः	—भ०का० IX.19
दशदन्ति सहस्राणि	—भ०का० 17.67
चतुर्दश सहस्राणि	—भ०का० 17.67
अष्टघण्टां	—भ०का० 17.92
शतसहस्रेण	—भ०का० 17.99
एकशतम्	—भ०का० 17.106
त्रिदशान्	—भ०का० I.2

आवृत्ति वाचक शब्दों के रूप भ० का० में धा प्रत्यय जोड़कर तथा कृत्व: जोड़कर मिलते हैं ।[1]

सहस्रधा	—भ०का० 14.56
त्रिधा	—भ०का० 17.91
शतधा	—भ० का० 5.25
शतकृत्व:	—भ० का० 8.122

त्रिशत शब्द से कर्मवाचक शब्द बनाने के लिए पूरणार्थक तमट् प्रत्यय का प्रयोग भ० का० में हुआ है ।

त्रिशततमम्	—भ० का० 7.89

भ० का० में संख्यावाचक शब्दों के साथ वीप्सा वाचक अव्यय बनाने के लिए शत् प्रत्यय जोड़े गए हैं ।[2]

शतश:	—भ० का० XI.129, IX.58
सहस्रश:	—भ० का० 15.86

सर्वनाम

सर्वादिगण में पढ़े गए सर्वनामों में से भ० का० में सर्व, उभ, उभय, द्वि, अन्य, पूर्व, पर, ऊपर, स्व, तद्, यद्, इदम्, अदस्, एक, युष्मद्, अस्मद्, भवत् तथा किम् के प्रयोग मिलते हैं ।[3]

सर्व शब्द के

सर्वम्	—भ० का० 5.8
सर्व:	—भ० का० 5.74
सर्वा	—भ० का० 8.69, 96
सर्वस्य	—भ० का० 18.8

उभ शब्द का द्विवचनान्त ही प्रयोग हुआ है ।

उभौ	—भ० का० 17.103
उभयो:	—भ० का० 17.106

---

1. अष्टाध्यायी, 5.3.42-43, 5.4.17.
2. वही, 5.4.43.
3. वही, 1.1.27.

अन्य शब्द के पाँच रूप मिलते हैं—

अन्ये	—भ० का० II.20
अन्य:	—भ० का० II 35
अन्यान्	—भ० का० IX.41
अन्ये	—भ० का० 8.32
अन्यै:	—भ० का० 8.128

पूर्व शब्द को पंचमी एकवचन में "स्मात्" आदेश होता है।[1]

पूर्वस्मात्	—भ० का० 8.104
पूर्वम्	—भ० का० 8.58
पूर्वै:	—भ० का० 6.137

पर शब्द का प्रयोग भट्टि काव्य में विभिन्न अर्थों में हुआ है—

परै:—शत्रुभि:	—भ० का० 5.8
परम्—अत्यर्थं	—भ० का० 7.103
पराऽपरम्—परंचअपरंच	—भ० का० 8.113
परै:—शत्रुभि:	—भ० का० X.11
परैरपि—उत्कृष्टैरपि	—भ० का० X.11
परेण—शत्रुणा	—भ० का० XII.37
परेषाम्—शत्रुणाम्	—भ० का० XII.53

अप ऊपर के दो रूप मिलते हैं—

अपरे	—भ० का० 17.64
अपरेण	—भ० का० XII.35

स्व शब्द के आत्मा तथा आत्मीय अर्थों में 5 रूप मिलते हैं।

स्वाम् पुरम्	—भ० का० I.10
स्वाम्	—भ० का० 8.49
स्वान्	—भ० का० IX.17
स्वे	—भ० का० 17.64
स्वकान्	—भ० का० IX.77

---

1. अष्टाध्यायी, 7.1.16.

तद् शब्द के निम्न रूप मिलते हैं—

पु०— ते —भ० का० 6.69, 8.13

तस्मिन् —भ० का० 8 50

तेन —भ० का० I.10

तस्य —भ० का० I.11

तान् —भ० का० II.28

स्त्री० सा —भ० का० 7.95

ताभ्य: —भ० का० 8.33

तस्याः —भ० का० II.1

नपु० तानि —भ० का० I.19

तद् तद् —भ० का० II.19

यद् के पु० तथा नपु० लिग में रूप मिलते हैं—

पु० यम् —भ० का० I.1 पे—भ०का० IX.104

येन —भ० का० I.18

नपु० यद्यद् —भ० का० II.19 यत्—भ० का०1.18

यत् —भ० का० II.18

यस्मात् —भ० का० 7 91

स्त्रीलिग में केवल एक रूप मिलता है—

यस्याम् —भ० का० I 8

भ० का० में एतद् शब्द के पु० तथा नपु० लिग में रूप मिलते हैं।

पु० एनम् —भ० का० II.21

एष: —भ० का० II.39

एतौ —भ० का० II.41

एतस्मै —भ० का० 8.74

एष: —भ० का० 8.104

एतेन —भ० का० IX.108

एनं —भ० का० 14.52

एतस्मात् —भ० का० 17.38

नपु० एतत् —भ० का० IX.131

एतानि —भ० का० XII.62

एतद् का एक स्त्री रूप भ० का० में मिलता है—

स्त्री०	एता:	—भ० का० XII.35

इदम् शब्द

पु०	अनेन	—भ० का० IX.94
	एभ्य:	—भ० का० III.42
	अस्मिन्	—भ० का० 7.91
	अस्य	—भ० का० II.42
	अयम्	—भ० का० 7.92, भ० का० II.34
नपु०	इदम	—भ० का० II.46,
स्त्री०	अस्यै	—भ० का० 14 84

अदस्

	असौ	—भ० का० II.19
	अमुम्	—भ० का० 7.83

एक

पु०	एकेन	—भ० का० IX.15
स्त्री०	एकस्याम्	—भ० का० 6.141
	एकस्या:	—भ० का० 8.112
	एका	—भ० का० 7.95

युष्मद् अस्मद्—द्वि

भ० का० में युष्मद् अस्मद् से परे ङे के स्थान में तथा प्रथमा व द्वितीया के स्थान में अम् आदेश होता हैं ।[1]

त्वम्	—भ० का० 1.18	माम्	—भ० का० I.22
युयम्	—भ० का० 4.6	वयम्	—भ० का० 8.12
युवाम्	—भ० का० II.27	त्वाम्	—भ० का० 8.112

भ० का० में युष्मद् और अस्मद् के म् पर्यन्त भाग को क्रम से त्व, अह आदेश होते हैं सु परे रहते ।[2]

त्वम्	—भ० का० I.18

भ० का० में दो को कहना हो तो युष्मद् अस्मद् के म् पर्यन्त भाग को युव, आव क्रम से आदेश होते हैं ।[3]

1. अष्टाध्यायी, 7 1.28.
2. वही, 7.2.94.
3. वही, 7.2 92.

युवाम् —भ० का० II.27

भ० का० में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति द्विवचन में भाषा में युष्मद् व अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है ।[1]

युवाम् —भ० का० II.27

भ० का० में जस् परे रहने पर युष्मद्, अस्मद् के म् पर्यन्त भाग को क्रम से यूय, वय आदेश होते हैं ।[2]

यूयम् —भ० का० 4.17

वयम् —भ०का० 8.12

भ० का० में युष्मद्, अस्मद् के अन्तिम को 'य्' आदेश होता है अनादिष्ट अजादि विभक्ति परे होने पर ।[3]

त्वया —भ० का० I.21

मया —भ० का० I.21

भ० का० में युष्मद् अस्मद् के म् पर्यन्त भाग को तव, मम—ये आदेश होते हैं ङ स् परे रहते ।[4] तथा ङ स् को अश् आदेश होता ।[5]

तव —भ० का० II.35

मम —भ० का० 8.16, 8.96

भ० का० में द्विवचनान्त युष्मद्, अस्मद्, षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त के स्थान में से वाम्, नौ ये आदेश होते हैं ।[6]

नौ —भ० का० 6.143

भ० का० में बहुवचन में वस षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त के स्थान में वस्, नस् आदेश होते हैं ।[7]

वः —भ० का० 4.6

नः —भ० का 5.44

---

1. अष्टाध्यायी, 7.2.88.
2. वही, 7.2.93.
3. वही, 7.2.89.
4. वही, 7.2.96
5. वही, 7.1.27.
6. वही, 8.1. 10.
7. वही, 8.1.21.

भ० का० में युष्मद् आदेश के म् पर्यन्त भाग को तुभ्य, मह्य आदेश होते हैं ङे परे होने पर ।[1]

तुभ्यम् —भ० का० 8.12

भ० का० में किम् को क आदेश होता है विभक्ति परे रहते हैं ।[2]

पु० कस्मात् —भ० का० II.33 का—भ० का० 8.81, IX.122

कस्यचित् —भ० का० 8.19 काश्चित्—भ० का० 8.33

केचित् —भ० का० III.10

केचन् —भ० का० II.10

कांचित् —भ० का० 8.28

केनचित् —भ० का० 8.28

के —भ० का० 7 85

केन —भ० का० 7.88

कस्य —भ० का० 8 104

कस्मात् —भ० का० IX.111

कश्चन् —भ० का० 14.84

भवत् शब्द के भ० का० में—

भवताम् —भ० का० III.28

भवता —भ० का० II.38

भवतीम् —भ० का० 8.83

रूप मिलते हैं ।

भ० का० में कुछ अकन् प्रत्ययान्त शब्द मिलते हैं—

मत्कैः —भ० का० 8.16

तवत्का —भ० का० IX.121

---

1. अष्टाध्यायी, 7.2.95.

2. वही, 7.1.103.

अध्याय षष्ठ

तिङन्त

तिङन्त प्रकरण

लक्ष्य द्वारा लक्षणों को उपस्थित करने की दृष्टि से भट्टि काव्य चार काण्डों में विभाजित है, जिसमें तीन काण्ड संस्कृत व्याकरण के अनुसार विविध शब्द रूपों को प्रयुक्त कर रचयिता की उद्देश्य सिद्धि करते हैं। अन्तिम चतुर्थकाण्ड संस्कृत के एक जटिल स्वरूप तिङन्त के विविध शब्द रूपों को प्रदर्शित करता है। यह काण्ड सबसे बड़ा काण्ड है। चतुर्दश सर्ग से द्वाविंश सर्ग तक 9 लकारों का प्रयोग किया है। भट्टि एक सर्ग में एक ही लकार और प्रत्यय के साथ धातुओं का बड़ा सुन्दर क्रम प्रस्तुत करता है। यथा—

विचुक्रुशुर्भूमिपतेर्महिष्यः केशांल्लुलुञ्चुः स्ववपूंषि जघ्नुः।
विभूषणान्युन्मुमुचुः क्षमायां पेतुर्बभञ्जुर्वलयानि चैव।

भ० का० III. 22

एक श्लोक में एक भी सुबन्त पद का प्रयोग किये बिना केवल धातु रूपों से ही अपने काव्य प्रवाह को भट्टि ने आगे बढ़ाया है। इस तरह का प्रयोग "पुष्पतुल्यानां आख्यातानां सुबन्त पदव्यवधानादृते गुम्फनादिह्वयमाख्यात-माला" कहा गया है यथा—

भ्रेमुर्ववल्गुर्ननृतुर्जजक्षुर्जगुः समुत्पुप्लुविरे निषेदुः।
आस्फोटयांचक्रुरभिप्रणेदु रेजुर्ननन्दु र्वियुयुः समीयुः॥

भ० का० XIII 28

पूरे महाकाव्य में भट्टि ने 480 के लगभग धातुओं का प्रयोग किया है। जिसमें से 280 परस्मैपदी, 120 आत्मनेपदी, 80 उभयपदों धातुओं का प्रयोग है। जबकि पाणिनीय धातु पाठ में लगभग 2000 धातुओं की गणना की गई है। जिनमें आधे से अधिक का प्रयोग संस्कृत भाषा में नहीं मिलता। संस्कृत भाषा में लगभग 800 धातु रूपों का प्रयोग मिलता है। लगभग 400

धातुओं का प्रयोग वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में मिलता है। लगभग 150 धातुओं का प्रयोग वैदिक संस्कृत में और 250 धातुओं का प्रयोग लौकिक संस्कृत में मिलता है। भ० का० में 480 धातुओं में से 13 अन्यत्र दुर्लभ धातुओं का प्रयोग किया गया है। तथा लगभग 22 धातुओं का एक से अधिक गणों में प्रयोग है। 10 गण एवं 9 लकारों के साथ ही भट्टि काव्य में आत्मनेपद, परस्मैपद, षत्व, णत्व, सन्नत के भी प्रयोग पाणिनीय सूत्र क्रम से दिए गए हैं। भ० का० में कुछ ऐसे प्रयोग भी दिए गए हैं जो रूप रचना की दृष्टि से अनेक विद्वानों के चिन्तन का विषय रहे हैं।

इस अध्याय में सर्वप्रथम भट्टि के उन प्रयोगों को लिया गया है जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार या साहित्य में प्रचलित प्रयोगों के आधार पर कुछ भिन्नता लिए हुए हैं। फिर उन धातुओं को लिया गया है जो साहित्य में बहुत ही विरल हैं और भट्टि काव्य में उनका प्रयोग है। फिर वे धातुएँ जिनका एकाधिक गणों में प्रयोग है ली गई हैं। इनके बाद 10 गणों का विशद विवेचन किया है। इन सबके बाद आत्मनेपद, परस्मैपद नाम धातु, कण्डवादि धातु, यङ्लुगन्त, यङन्त, कर्मकर्तृ, भावकर्म, लकारार्थ, णिजन्त, सन्नन्त, षत्व आदि का विवेचन किया गया है।

भट्टि काव्य में कुछ धातु रूपों का प्रयोग भट्टि ने पाणिनीय धातु अर्थों से तथा लकारों से हटकर किया है, जिन पर विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। वे भट्टि के प्रयोगों को उचित अनुचित ठहराते हुए अपने विचार व्यक्त करते हैं। कई स्थानों पर भट्टि के सकर्मक तथा अकर्मक प्रयोग भी चिन्त्य हैं।

1. क्ष्मायी विधूनने (हिलाना) धातु सकर्मक है भट्टि ने इसका प्रयोग (हिलना) अकर्मक मानकर किया है।

   अक्ष्मायत मही—पृथ्वी काँपी—भ० का० 17.73

   चक्ष्माये व मही—भूकम्प हुआ—भ० का० 14.21

2. घट् चेष्टायाम्—अकर्मक है, चेष्टा करना, यत्न करना भ० का० में प्रेरणा अर्थ में ण्यन्त प्रयोग किया है।

   स्नेहौघो घटयति मां तवापि वक्तुम्—भ० का० X 74

   स्वेहसमूह मुझे बोलने के लिए प्रेरित कर रहा है।

3. स्यन्दू प्रस्रवणे (बहना) अकर्मक है।

भट्टि काव्य में अन्तर्भावितण्यर्थ होकर यह धातु सकर्मक बन गई है।

सस्यन्दे शोणितं व्योम (भ० का० 14.98)

अकाश ने रूधिर सेवन किया।

4. च्युतिर आसेचने (गीला करना, भिगोना)

भट्टि ने इसका "टपकना", "बहना" अर्थ में प्रयोग किया है।

इदं शोणितमभ्यग्रमं सम्प्रहारेऽच्युतत्तयोः भ० का० 6.28

उन दोनों के युद्ध में यह ताजा खून क्षरित हुआ है।

5. पुष् पुष्टौ (पुष्ट करना)

पुष धातु सकर्मक है पर भ० का० में अकर्मक रूप में इसका प्रयोग किया गया है। अस्त्रीकोऽसावहं स्त्रीमान् स पुष्यत्तितरां तव—भ० का० 4.29

मैं पत्नियुक्त हूँ ये लक्ष्मण पत्नि रहित हैं वे ही तुम्हारे पति होने योग्य हैं।

6. उप+यम्

उपपूर्वक यम् धातु से पाणि ग्रहण पूर्वक स्वीकरण अर्थ में आत्मने पद होता है।[1]

लेकिन भट्टि ने केवल स्वीकार अर्थ में आत्मनेपद किया है जो इस नियम के विरुद्ध है।

उपायंस्त महाऽस्त्राणि—भ० का० 15 21

बड़े अस्त्रों को स्वीकार किया।

7. अनुज्ञा से कर्तृभिप्राय क्रिया फल में आत्मनेपद होता है। अन्यथा परस्मैपद।[2]

पर भट्टि ने "अनुजज्ञे" उपसर्ग योग होने पर भी ज्ञा से आत्मनेपद किया है।

इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे, ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य।

—भ० का० 1.23

---

1. अष्टाध्यायी, 1.3.5
2. वही, 1.3.76

8. खर्द—दन्दशुके—साँप का काटना

भट्टि ने दन्दशूकान् शब्द का अर्थ राक्षस किया है उसने शब्द के व्युत्पत्ति परक अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया जिसका अर्थ है "जो काटता है अर्थात् सर्प"

इषुमति रघुसिंहे दन्दशूकान् जिघांसौ—भ० का० 1.26

राक्षसों को मारने के लिए प्रशस्त बाण से युक्त होने पर।

सायण के मत में हिंसक के अर्थ में प्रयोग करते हुए भट्टि ने व्युत्पत्ति परक अर्थ की अवहेलना की है।[1]

9. तृम—प्रीणेने "तृप्त होना" धातु का प्रयोग भ० का० में तर्पण अर्थ में मिलता है।

पितृ नलाप्र्सीत— भ० का० II.52

पितरों को तृप्त किया

इस धातु के तृप्ति और तर्पण दोनों अर्थ में हैं ऐसा भट्टोजिदीक्षित[2] और सायाणाचार्य[3] मानते हैं। जबकि व्याकरण चन्द्रोदय[4] में कहा गया है कि दिवादि तृप् एवं स्वादि भी सर्वत्र अकर्मकतया प्रयोग हुई मिलती हैं। भट्टि की उच्छृंखलता मात्र है जो तर्पण अर्थ में इसका प्रयोग करता है। तर्पण अर्थ में सर्वत्र णिय् सहित तृप् का प्रयोग होता है।

10. क्षिप्—प्रेरणे

दिवादिगण में क्षिप् प्रेरणे अर्थ में धातु मिलती है भट्टि काव्य में क्षिप् का प्रयोग "उपसंहार" अर्थ में हुआ है।

संक्षिप्य संरम्भमसदिवपक्षम्—भ० का० II 52

संक्षिप्य—संहर

शत्रुओं से रहित आप क्रोध को छोड़िए।

सम्पृचादि सूत्र में वृत्तिकार ने "क्षिपिर्द्विवादिस्तुदादिश्च गृह्यते"

---

1. माधवीया धातुवृत्ति, पृ० 73
2. सिद्धान्त कौमुदी, अच्युतानन्द शास्त्री, काशी 1948. पृ० 226
3. माधवीया धातुवृत्ति—पृ० 432
4. व्याकरण चन्द्रोदय, तृतीय खण्ड, पृ० 133

कहकर "क्षिप्" को दिवादि और तुदादि दोनों गणों में माना है। लेकिन पारायणिकों ने इस पाठ को अनुचित कहा है ऐसा सुधाकर ने यह समत्र कहा है ? प्रतिपादित किया है। सायणाचार्य ने भी इसे दिवादिगण में "क्षिप् प्रेरणे" अर्थ में स्वीकार किया है।[1] लेकिन भट्टि काव्य के टीकाकार जयमंगल ने "संहर" अर्थ में इसे दिवादिगण में स्वीकार किया है।

11. **आज्ञां प्रतीषुर्विनयादुपास्थुः।** भ० का० III. 43

आज्ञा मानी, नम्रता से सेवा की।

यहाँ उपास्थुः शब्द में "उपामन्त्रकरणे"[2] सूत्र पर वार्तिक[3] के अनुसार "पूजा करण" अर्थ में आत्मनेपद अपेक्षित था। लेकिन यहाँ इस अर्थ में परस्मैपद किया गया है। सायणाचार्य[4] इस शब्द का समाधान यह कहकर देते हैं कि "उपास्थुः" का अर्थ पूजा से भिन्न है। पर भट्टि ने पूजीकरण 'अर्थ' में ही परस्मैपद का प्रयोग किया है।

जगमंगल ने इस शब्द की व्याख्या "उपास्थुः" उपस्थिताः। पाद प्रक्षालनादि दानेन उपास्थान कृतवत्यः की है।

12. ततो वावृत्यमानाऽसौ रामशालां न्यविक्षत—भ० का० 4 28

वावृतु वरणे दिवादि धातु से लट् शानच्

पाणिनीय धातु पाठ में "तपऐश्वर्ये वा वृतुवरणे" पाठ पाया जाता है लेकिन इस बात पर मतभेद है कि वा ऐश्वर्ये के साथ है या वृतु से पहले।

सभी धातुवृत्तिकार इसे "वृतु वरणे" ही पढ़ते हैं, केवल क्षीर स्वामी[5] वावृतु वरणे पढ़ते हैं।

मैत्रेय रक्षित[6] सायण[7] भट्टोजिदीक्षित[8] वावृतु वरणे के संदर्भ में

---

1. माधवीया धातुवृत्ति, पृ० 405-406.
2. अष्टाध्यायी, 1.3.25.
3. उपाद्देवता पूजा संगति करण पथिष्विति वक्तव्यम्। वही, 1.3.25.
4. माधवीया धातुवृत्ति, पृ० 248-249.
5. क्षीर तरंगिणी, पृ० 207.
6. धातुप्रदीप, पृ० 93.
7. माधवीयाधातु वृत्ति, पृ० 418.
8. सिद्धान्त कौमुदी अच्युतानन्द शास्त्री, पृ० 224-225.

भ० का० को ही उद्धृत करते हैं।

सभी धातु वृत्तिकारों ने दोनों ही धातुओं को स्वीकार कर लिया है।

13. कासांचक्रे पुरी सौधेतीवोद्भासिभिः सितैः—भ० का० 8.38

शरण देव[1] ने कासांचक्रे शब्द पर आपत्ति की है कि "कासृ शब्द कुत्सायाम्" से यह शब्द लिया गया है "काशृ दीप्तौ" से नहीं इसलिए यह प्रयोग गलत है।

कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि से[2] लिट् प्रत्यय परे रहते 'कासृ' (भ्वा० आ०) तथा प्रत्ययान्त धातुओं से आम् प्रत्यय होता है पर मन्त्र में नहीं। आम् प्रत्यय की प्रकृति यदि आत्मनेपदी है तो अनुप्रयुक्त कृ से आत्मनेपद होता है, अन्यथा परस्मैपद।

14. अभून्नृपो विबुध सखः परन्तपः, श्रुताऽन्वितो दशरथ दत्युदाहृतः —भ० का० 1.1

यहाँ पाणिनीय सूत्र "परोक्षे लिट्"[3] के अनुसार अभूत् में लिट् लकार होना चाहिए था पर भ० का० में इसके स्थान पर लुङ् लकार का प्रयोग किया गया है। पर शरणदेव[5] और भट्टोजिदीक्षित[4] ने इस शब्द के विषय में समाधान देते हुए कहा है कि यहाँ सामान्य भूत में लुङ् लकार का प्रयोग किया गया है।

15. समीहे मर्तुमानर्चे—भ० का० 14.63

यहाँ लिट् लकार में इहे के साथ पाणिनीय सुत्रानुसार[6] आम् प्रत्यय आना चाहिए। शरण देवे[7] ने इस शब्द पर विचार करते हुए 'न्यास'[8] को उद्धृत किया है। उसके अनुसार 'आम्' प्रत्यय सर्वत्र इस धातु के साथ

---

1. दुर्घटवृत्ति, पृ० 61-62.
2. अष्टाध्यायी, 3.1.35.
3. वही, 3 2.115
4. दुर्घटवृत्ति, गजपति शास्त्री, 1942, पृ० 67.
5. शब्दकौस्तुभ—गोपाल शास्त्री संख्या III, बनारस 1929, पृ० 465.
6. अष्टाध्यायी, 3.1.36
7. दुर्घटवृत्ति, पृ० 62
8. काशिकाविवरण पंजिका, संस्करण I, पृ० 145

नहीं लगता क्योंकि इसके साथ लिट् प्रत्यय कित्वत[1] भी माना गया है। अतः आम् का प्रयोग वैकल्पिक है इसलिए भ० का० का प्रयोग उचित है।

दुर्लभ धातुएँ

भट्टि काव्य में कुछ दुर्लभ धातुओं का भी प्रयोग मिलता है जिससे भट्टि की भाषा पर पूर्ण-प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है।

1. अढौकिषत भ० का० 15.49	समीपं जग्मुः। ढौकृज् धातु लुङ्
2 मन्तुयति—भ० का० 5.43	कुटयति—मन्तु रोष काण्ड्वादि यगन्ताद्धातोर्लट्
3. अप्रोथीत्—भ० का० 15.40	प्राभूत् "प्रोथ पर्याप्तौ" इति लुङ्।
4. जुजुरे—भ० का० XI.8	कुव्यति स्म—जूरी हिंसा वयोहान्योः। इति लिट्।
5. ववल्गुः—भ० का० 14.9	धावितवन्तः—वल्गु
6. अप्लोष्ट—भ० का० 15.46	भ्रान्तवान्—प्लुङ् गतौ इति धार्तोर्लुङ्
7. न्यलेषत—भ० का० 15.32	निलीनाः—लीङ् श्लेषणे इति धातोर्लुङ्
8. अप्लोष्ट—भ० का० 15.88	अपनीतवान्—हुङ् अपनयने इति धातुर्लुङ्
9. विवेच—भ० का० 14.103	पृथक्कृतवाद—विचिर पृथक् भावे इति धातो लिट्।
10. शिशिञ्जिरे—भ० का० 14.4	शब्दितवत्यः—शिजि अव्यक्ते शब्दे-तिट्
11. उपशिशिघ—भ० का० 14.52	आघ्रातवांश्च—उपपूर्वकात् "शिघि आघ्राणे" लिट्
12. बुबुन्द—भ० का० 14.72	श्रुतवान्—उबुन्दिर निशामने "इति लिट्
13. संचुकुटुः—भ० का० 14.105	संकुरिताः संपूर्वकात् कुट् कौटिल्ये"

---

1. अष्टाध्यायी, 1.2.6

अनेक गणों में धातुएँ—　　　　इति लिट्

भ० का० में बहुत सी धातुओं का अनेक गणों में प्रयोग मिलता है।

यथा

1. अर्थ —भ्वा० चुरा,
2. अत् —भ्वा०, अदा,
3. ऋ —भ्वा०, जुहो०
4. क्षुभ् —भ्वा० दिवा०, क्रया०
5. क्षणु, क्षणु— —अदा०, तना०
6. खिद् —तुदा० दिवा
7. आप्लृ —चुरा० स्वा०
8. चिति, चिती —भ्वा० चुरा चुरा०
9. ज्ञा —भ्वा० क्रया०
10. प्रीष् —क्रया० चुरा०
11. पुष् —दिवा० भ्वा०
12. पुरी० —चुरा० दिवा०
13. भ्रमु —भ्वा० दिवाश०
14. रूष् —दिवा० चुरा०
15. लुठ् —तुदा० भ्वा०
16. वस् —भ्वा० अदा०
17. वृभ् —स्वा० क्रया० चुरा०
18. विद् —रूधा० चुरा०
19. सृज् —दिवा० तुदा०
20. स्तृण् —क्रया० स्वा०
21. स्फुद् —चुरा० भ्वा०
22. हृष् —भ्वा० दिवा०

भ्वादि गण

अन्य सभी गणों की अपेक्षा भ्वादिगण की धातुओं की संख्या भ० का० में सबसे अधिक है। इस गण की लगभग 231 धातुएँ भ०का० में उपलब्ध हैं, जो भ० का० में प्रयुक्त धातुओं की आधी हैं। इस गण की धातुओं से परे और प्रत्यय के बीच में शप्" (पा० 3.1. 68) विकरण "अ" लगता है

कर्तरि शप्" सूत्र से। धातु के अन्तिम स्वर **इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ** एवं उपधा के इकार, उकार और अकार को गुण हो जाता है तथा अन्तम गुण के **ए** को **अय्** और **ओ** को **अव्** हो जाता है। जैसे—

भवति —भ० का० 18.35—भू+अ+ति, भो+अ+ति, भव्+अ+ति=भवति

शप् विकरणान्त धातु रूप

भ० का० में पाए जाने वाले अन्य शप् विकरणान्त रूप इस प्रकार है—

भू —सत्तायाम् (होना) परस्मैपदी

भ० का० में भू धातु के लगभग 20 प्रयोग उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ प्रयोग सम, उत्, अनु अभि उपसर्गों के साथ मिलते हैं।

भवति —भ० का० 18.25

यह भू धातु लट् लकार प्र० पु० ए० व० का रूप है। यहाँ भू और तिप् के बीच "शप्" विकरण जोड़ा गया है। अन्य भू धातु के रूप इस प्रकार हैं—

भवतात्[1] —भ० का० XX·13 लोट् म० पु० एक व० "आशिषि लिङ् लोटौ

भव —भ० का० XX 17 लोट् म० पु० एक व०

भव —भ० का० XX·38

उदभावयन् —भ० का० 17.8 उद्पूर्वक भू से णिजन्त लङ्

संभवम् —भ० का० 17.36 सम् पूर्वक लङ् उ० पु० ए० व०

सम भूयत —भ० का० 15.57

अभविष्यत् —भ० का० XXI·2 लुङ् प्र० पु० ए० व०

भविष्यामि —भ० का० 16·34 लृट् उ० पु० एक व०

भवतात् —भ० का० XXII.35 लोट् म० पु० एक व०

भूयाः —भ० का० XIX.26 आशीलिङ्० म० पु० एक० व०

मा अनुभुः —भ० का० 15.16 लुङ् म० पु० एक व०

अभूत् —भ० का० 15.18 लुङ् प्र० पु० एक व०

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.174 6.1.35

बोभवीति	—भ० का० 18.41 भू+यङ्
अभ्यभूयन्त	—भ० का० 17.59 अभिपूर्वक भू धातु कर्मणि लङ्
अनुभाविता	—भ० का० XXII.20 अनुपूर्वक भू से कर्मणि लुट्
समभावि	—भ० का० 6.34 समपूर्वक भू से भावे चिण्
जि	—जये (जीतना) परस्मैपदी

अभिनव अर्थ में सकर्मक है और उत्कृष्ट होने के अर्थ में अकर्मक है भ० का० में इस धातु के आठ प्रयोग मिलते हैं।

केन जायिष्यते यमः —भ० का० 16.2 में कर्म में लृट् लकार है।

नाऽभिज्ञा ते महाराज। जेष्यावः शक्र-पालितम्—भ० का० 16.36

यहाँ स्मृति वाचक अभिज्ञा पद के उपपद होने के कारण अनद्यतन भूत में लृट लकार हुआ है।[1]

सपत्नांश्चाऽधिजीयास्म संग्रामे च मृषीमहि—भ० का० XIX.2

अधिजीयास्म में "जि" धातु अकर्मक होने पर भी उपसर्ग के बल से सकर्मक बन गई है।

जेष्यावः	—भ० का० 16.36/जि लृट् उ० पु० ब० व०
अश्रौषीः	—भ० का० 15.12 लुङ् म० पु० एक व०
अजेषत	—भ० का० 15.76 कर्मणि लुङ्
विजिग्ये	—भ० का० 14.106 विपूर्वक लिट्, प्र० पु० एक व०
विजेष्ये	—भ० का० 16.13 वि+लृट्, उ० पु० ए० व०
व्यजेष्ट	—भ० का० 15.39 वि+लुङ् प्र० पु० एक व०

श्वि गति वृद्धयोः (गति और वृद्धि में)

भ० का० में एक स्थान पर इस धातु का प्रयोग सूजने अर्थ में किया गया है। अर्थात् वृद्धि अर्थ में।

1. शिश्वियुः —भ० का० 14.79—शोथ युक्ता बभूव।
2. शुशुवुः —भ० का० 14.79—गताः
 यहाँ गति अर्थ में प्रयोग हुआ है।
3. अश्वताम् —भ० का० 15.30 में फूलने अर्थ में प्रयोग हुआ है।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.68

4. अशिश्वियत् —भ० का० 15.30 में फूलने अर्थ में प्रयोग हुआ है।
—भ० का० में इस धातु के चार ही प्रयोग मिलते हैं।

शिश्वियु: —लिट् प्र० पु० ब० व०
शुशुव: —लिट् प्र० पु० ब० व०
अश्वताम् —लुङ् प्र० पु० द्वि० व०
अशिश्वियत् —चङ् पूर्वक लुङ् प्र० पु० ए० व०

द्रुगतौ (जाना) भ० का० में/द्रु धातु के चार रूप मिलते हैं।

यथा—

1. अभ्यद्रवत् —भ० का० 17.82 अभिपूर्वक लङ्० प्र० पु० एक व० 17.96
2. प्रदुद्रुवतु: —भ० का० 14.110 प्र० पूर्वक लिट्० प्र० पु० ब० व०
3. प्रादुद्रुवंस् —भ० का० 15.79 प्र पूर्वक लुङ् प्र० पु० ब० व०

अभ्यद्रवत् (अभिमुखं गतः) यहाँ अभिपूर्वक द्रु धातु का अर्थ सम्मुख जाना हो गया है।

प्र० पूर्वक द्रु का। विघ्नित करना तथा ऊपर आ पड़ना भी अर्थ है पर भ० का० में पास जाना अर्थ में प्रयोग है।

प्रादुद्रुवंस् भ० का० 15.79
4. प्रदुद्रुवतः "में" आ पड़ना "अर्थ में प्रयोग किया गया है।

च्युङ् गतौ

इस धातु का भ० का० में एक ही प्रयोग मिलता है जो सामान्य गति अर्थ में न होकर "गिरना" विचलित होना "अर्थ में है।

अच्योष्टः भ० का० III.20 लुङ् प्र० पु० एक व०
(च्युत) धैर्याद् भ्रष्टः

प्लुङ् गतौ

इस धातु के दो प्रयोग भ० का० में मिलते हैं तथा इसका भी प्रयोग सामान्य गति अर्थ में एक स्थान पर हुआ है अन्यत्र कूदने अर्थ में हुआ है।

1. पुप्लुवे —भ० का० 14.13 भावे लिट् प्र० पु० ब० व०
(वेग से चलने लगे)

2. समुत्पुप्लुविरे —भ० का० XIII.28 लिट् प्र० पु० ब० व०
(समुत्प्लुत्य गताः)

मृज् भरणे (भटना, पालना)
भ० का० में इस धातु का भरने अर्थ में प्रयोग हुआ है।

अमार्षीत् —भ० का० 15.24 लुङ् प्र० पु० एक व० (पूरितवान्) एक स्थान पर इकट्ठा करने अर्थ में प्रयुक्त है।

म्रियेत् —भ० का० XII.10 विधि० प्र० ए० ए० व० (संम्रियताम्) तृ "प्लवन तरणयोः" (बहना तैरना, पार करना)।

तैरने बहने अर्थ में यह धातु अकर्मक रूप में प्रयुक्त है।

तेरुर्भटाऽऽस्यपद्मानि—भ० का० 14.27 लिट्० प्र० पु० ब० व० योद्धाओं के मुख कमल तैरने लगे।

"पार करना" अर्थ में "तृ" धातु से उद् उपसर्ग लगाया गया है।

उत्तेरिथ समुद्रं त्वं मदर्थे—भ० का० 14.57 लिट् मु० पु० एक व०
आपने मेरे लिए समुद्र तरण किया है।

उदतारीदुदन्वन्तम्—भ० का० 15.10 लुङ् प्र० पु० ए० व०
समुद्र तरण किया।

उदतारिषुरम्भोधिम् वानराः सेतुनाऽपरे—भ० का० 15.33
लुङ् प्र० पु० ब० व० (वानरों ने पुल से समुद्र का संतरण किया।)

गुहू संवरणे (ढाँपना, छिपाना)

भ० का० में गुहू धातु छिपाना और ढँकना अर्थ में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुई है।

गूहिष्यामि —भ० का० 16.41—लृट् उ० पु० ए० व०

अगूहीत् —भ० का० 15.99—लङ् प्र० पु० एक व०

मा घुक्ष: —भ० का० 6.16—लुङ् म० प्र० एक व०

उप उपसर्ग पूर्वक इस धातु का अर्थ आलिंगन करना हो गया है।

उपजुगूह —भ०का० 14.52 (आलिंलिग) लिट् प्र० म० पु० एक व०

भ०का० में क्रमु (पाद विक्षेपे कदम बढ़ाना) के शित् प्रत्यय परे होने पर दीर्घ हो जाता है।[1]

मा स्म व्यतिक्रामः—भ० का० 17.36 लङ् म० पु० एक व०

अत्यक्रामच् —भ० का० 17.82 लङ् प्र० पु० एक व०

भ० का० में कृपू सामर्थ्ये अर्थ में कृप् धातु के र् को ल् बन जाता है।[2]

अकल्पस्यत् —भ० का० IX.44 लृङ् प्र० पु० एक व०

कल्पतास्थ: —भ० का० XXII.21 लुट् मु० पु० द्वि० व०

पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण्, दृश्य, अर्ति, सर्ति, शद्—सदाम्

भ० का० में पिब्, जिघ्र, धम्—तिष्ठ—मन—यच्छ, पश्यर्छद्यौ शीय सीदा:।[3]

इनमें से केवल सृ धातु को छोड़कर सभी धातुओं के रूप भ० का० में मिलते हैं। इन सभी को शित् प्रत्यय परे रहते क्रम से पिब्, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ पश्य, ऋच्छ, शीय और सीद् आदेश हो गए हैं।

पा (पीना)

पास्यत्यरि—भ० का० 16.29

पपुः—भ० का० 14.53 पेयाः—भ० का० XIX.27

पा धातु का पिब आदेश होकर कोई रूप भ० का० में नहीं मिलता।

घ्रा (सूंघना)

अजिघ्रत्—भ० का० 17.47 अजघ्रुः 14.12 आघ्राथि II.10

ध्मा (बजाना)

आघ्नन्—भ० का० 17.7 समादध्मुः—भ० का० 14.2

---

1. अष्टाध्यायी, 7.3 76.
2. वही, 8.2.18.
3. वही, 7.3.78.

स्था —रुकना

स्थीयते स्म—भ० का० 18.13, उपातिष्ठत् भ०का० 17.23

म्ना (अभ्यास करना)

आमनति—भ० का० 18.5

दाण् (देना)

प्रयच्छति—भ० का० 18.2, प्रायच्छत्—भ० का० 17.27

दृश् (देखना)

पश्यत्—भ० का०. XX.7

केवल एक ही रूप भ० का० में "पश्य" आदेश होकर मिलता है, शेष दृश से निष्पन्न ही मिलते हैं।

द्रक्ष्यति—भ० का० 16.8, दृष्टारः—भ० का० XXII.10

ऋ (जाना, ले जाना)

ऋच्छन्ति—भ० का० 18.5, आर्च्छन्—भ० का० 17.10

शद् (नष्ट होना)

शीयते—भ० का० 18.9, अशीशतत्—भ० का० 15.68

सद् (दुःखी होना, गति)

असीदताम् —भ०का० 17.84, आसेदुः—भ०का० 7.31
सीदेत् —भ० का० XIX.18

भ० का० में दंश, संज, स्वंज, रंज इनके "न" का लोप हो जाता है, शप् परे होने पर।[1]

दंश (डसना) धातु का भ०का० में न, सहित केवल एक रूप मिलता है।

अदांङ्क्षुः —भ० का० 15.4

संज (चिपटना) धातु का लिट् लकार में न सहित केवल एक रूप मिलता है।

आससंज —भ० का० 14.104

---

1. अष्टाध्यायी, 6.4.25

ष्वंज (लिपटना) धातु के दो रूप भ० का० में मिलते हैं।

पर्यष्वजत् —भ०का० 17.47 संस्वजते भ०का० III.23

भ० का० में श्रु धातु को कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर, "शृ" आदेश होता है और इसके साथ ही शप् के स्थान में श्नु प्रत्यय होता है, श् इत्संज्ञक है।

शृण्वन्तु —भ० का० XX.36
अशृण्वन् —भ० का० 17.17

भ० का० में इष्, गम्, यम् को "छ्" अन्तादेश होता है, शित् प्रत्यय परे होने पर।"[1]

भ० का० में केवल गम् धातु के ही रूप मिलते हैं—
अवगच्छामि—भ० का० 18.30
न गच्छामि —भ० का० 18.35
अगच्छत् —भ० का० 17.25
आगमिष्यत् —भ० का० XXI.10
अभिगन्तास्थ:—भ० का० XXII.18
गन्तास्व —भ० का० XXII.22
आगमत् —भ० का० 15.13
समगत —भ० का० 15.123
उपागमताम् —भ० का० 15.92
गन्ता —भ० का० XX.18

भ०का० में गुप्, धुप्, विच्छ, पण्, पन्, इनसे आय् प्रत्यय स्वार्थ में होता है। पण्, पन् से आय् प्रत्ययान्त होने पर आत्मने पद नहीं होता केवल धातु से होता है।[2]

गोपायति —भ० का० 18.23
प्रगोपायांचकार —भ० का० 14.87

पण् धातु का आय् प्रत्यय रूप भ० का० में नहीं मिलता। केवल एक रूप आत्मने पद लुङ् लकार में मिलता है।

अपणिष्ट —भ० का० 8.121

1. अष्टाध्यायी, 7.3.77.
2. वही, 3.1.28.

भ० का० में कमु कान्तौ से स्वार्थ में णिङ् प्रत्यय होता है, सर्विधातुक परे होने पर।[1]

कामयांचक्रिरे —भ० का० 14 53

वेञ् तन्तु सन्ताने—इस धातु का प्रयोग प्रायः प्र उपसर्ग और आङ् पूर्वक मिलता है, पर भ० का० में इसका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग हुआ है।

ऊयुः, ऊवुः —भ० का० 14 84

व्येण्—संवरणे—इसका एक प्रयोग भ० का० में सम उपसर्ग पूर्वक मिलता है।

संविव्ययुः —भ० का० 14.74

हेण्—स्पर्धायां, शब्दे च, दोनों ही अर्थों में इस धातु का भ० का० में आङ् पूर्वक प्रयोग हुआ है।

आह्वयत् —भ० का० 17.31
आजुहर्वे —भ० का० 14 4 (स्पर्धितवान्)

कुश्—आह्वाने, रोदने च

बुलाने और रोने अर्थ में कुश धातु आङ् और वि उपसर्ग के साथ ही प्रयुक्त है।

व्याक्रोशतां —भ० का० 17 24
विक्रोक्ष्यन्ति —भ० का० 16.32

ष्ठिवु निरसने (थकना) इस धातु का भ० का० में निर् उपसर्ग पूर्वक प्रयोग है।

निष्ठीवति —भ० का० 18.14
न्यष्ठीवत् —भ० का० 17.10

अट् गतौ—गति सामान्य अर्थ में पढ़ी गई है, पर भ० का० में यह भ्रमण अर्थ में प्रयुक्त है। केवल एक स्थान पर "जाना" अर्थ में प्रयुक्त है।

आटताम् —भ्रान्तौ—भ० का० 17.84
आटटियत —भृवामाटत्—भ० का० 17.75
आट —गतवान्

णम प्रह्वत्वे शब्दे—भ० का० में केवल झुकना अर्थ में ही प्रयोग मिलता है, शब्द करना अर्थ में नहीं।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.30.

नमन्ति —भ० का० 18.39

नम —भ० का० XII.39

वंचुगतौ धातु का लौकिक संस्कृत में प्रयोग बहुत विरल है। भ० का० में इसका एक ही प्रयोग मिलता है।

ववंचुः —भ० का० 14 74

क्ष्मायी विधूनने —हिलाना

भ० का० में

चक्ष्माये च महि —भ० का० 14.21

भूकम्प हुआ

अक्ष्मायत मही—भ० का० 17.73 पृथिवी काँपी दोनों ही स्थानों पर क्ष्मायी धातु का अर्थ हिलना ले लिया है जबकि वास्तविक अर्थ हिलाना है।

घट् चेष्टायाम्

इस धातु के भ० का० में मुख्य अर्थ में तथा चेष्टा करवाना, प्रेरणा करना, अर्थ में रूचिर प्रयोग मिलते हैं।

दयिता त्रातुमलं घटस्व —भ० का० X 40

स्नेहौघो घटयति मां तथापि वक्तुम्—भ० का० X.74

प्रवृत्त होना अर्थ में भी भ० का० में एक प्रयोग मिलता है।

नाऽनभीष्टे घटामहै —भ० का० XX.24

अनभिष्ट अर्थ में प्रवृत्त नहीं होते हैं।

व्यथ्—भय चलनयो

यह भय अर्थ में अधिक प्रसिद्ध है पर भ० का० में दोनों अर्थों में प्रयोग किया गया है।

न अव्यथेतां —नो भीतौ, नो चलितौ

न अव्यथिष्ट —भ० का० 15.45 व्यथितौ नाडभूत

विव्यथे —भ० का० 14.60 पीडिता

टुनदि समृद्धौ

भ० का० में इस धातु के सभी प्रयोग आङ् पूर्वक ही मिलते हैं।

आनन्दितारः —भ० का० XXII.14

आनन्दे —भ० का० XIX.25
आननन्दत् —भ० का० 15.59

स्यन्द प्रसवणे

स्यन्द धातु अकर्मक है, लेकिन भ० का० में अन्तर्भावितण्यर्थ होकर एक यह सकर्मक बन गई है।

सस्यन्दे शोणितं व्योम —भ० का० 14.98
आकाश ने रक्त बरसाया।

गुहू संवरणे

भ० का० में गुहू धातु छिपाना और ढँकना अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

गुहिष्यामि —भ० का० 14.41
अगूहीत् —भ० का० 15.99

उप उपसर्ग पूर्वक इस धातु का अर्थ आलिंगन करना हो गया है।

उपजुगूह —आलिंगन—भ० का० 15.52

च्युतिर आसेचने (गीला करना, भिगोना) भ० का० में इसका प्रयोग "टपकना" बहना अर्थ में हुआ है।

इदं शोणितमभ्यग्रं, सम्प्रहारेऽच्युतत्तयोः—भ० का० 6.28
उन दोनों के युद्ध में यह ताजा खून क्षरित हुआ है।

इदं कवचमच्योतीत्—भ० का० 6 29
यह कवच जमीन पर गिरा है।

स्कन्दिर गति शोषणयोः —भ० का० में दो जगह गति अर्थ में इस धातु का प्रयोग हुआ है।

आस्कन्दन् —भ० का० 17.11
समास्कन्त्स्यति —भ० का० 16.10

एक स्थान पर इसका प्रयोग पीड़ित करना "अर्थ में आङ् पूर्वक हुआ है।

आस्कन्दल्लक्ष्मणं बाणैः —भ० का० 17.82
लक्ष्मण को बाणों से पीड़ित किया है।

ह्वेण् स्पर्धायां शब्दे च—दोनों ही अर्थों में इस धातु का प्रयोग भ० का० में आङ् पूर्वक है।

आह्वयत —भ० का० 17.31

आजुहाव —भ० का० 14.44

आजुहर्वे —भ० का० 14.44

कुश आह्वाने रोदने च —बुलाने और रोने अर्थ में कुश् धातु आङ् और वि उपसर्ग के साथ ही प्रयुक्त है।

व्याक्रोशताम् —भ० का० 17.24

विक्रोक्ष्यन्ति —भ० का० 16.32

दो गण ऐसे हैं जिनमें शून्य शेष रहता है। धातु और प्रत्यय के बीच में कोई विकरण नहीं लगता। ये गण हैं—

अदादिगण

जुहोत्यादिगण

अदादिगण

लगभग 150 धातुओं के रूप अदादिगण में मिलते हैं। इनमें से लगभग 80 धातुओं के रूप केवल वैदिक भाषा में लगभग 15 धातुओं के रूप लौकिक संस्कृत में और लगभग 50 धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक संस्कृत दोनों में मिलते हैं।[1] भ० का० में लगभग 46 धातुओं के रूप इस गण में मिलते हैं। अद् आदि धातुओं से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते शप् का लुक् हो जाता है। प्रत्ययों से पूर्व धातु के स्वर को गुण होता है। अन्य प्रत्ययों से पूर्व नहीं होता।[2]

हलादि पित् प्रत्यय से पूर्व उकारान्त अंग को वृद्धि होती है, प्रत्यय का लुक् होने पर।

यु मिश्रणऽमिश्रणयोः, का एक ही रूप भ० का० में मिलता है।

समयौत्—भ० का० X.5 सम् पूर्वक लङ् प्र० पु० एक वचन वृद्धि होकर इस धातु का एक ही रूप भ० का० में मिलता है।

कु, क्ष्णु, धु षु आदि उकारान्त धातुओं का वृद्धि रूप भ० का० में नहीं मिलता।

---

1. वैदिक व्याकरण, पृ० 505
2. अष्टाध्यायी, 2 4.72
3. वही, 7 3.89

चुकुवुः —भ० का० 14.5 लिट् प्र० पु० ब० व०

दुधुवुः —भ० का० 14.101 लिट् प्र० पु० ब० व०

प्रचुक्ष्णुवुः —भ० का० 14.91 लिट् प्र० पु० ब० व०

मा न सावीः —भ० का० IX.50 लुङ् म० प्र० एक व०

संयुहि —भ० का० XX.16 लोट् म० पु० एक व०

रू धातु के वृद्धि युक्त दो रूप भ० का० में मिलते हैं।

समरौत —भ० का० 17.71 लङ् प्र० पु० एक व०

विरौमि —भ० का० 18.29 लट् उ० पु० एक व०

भ० का० में मृज्—हलादि पित् प्रत्यय से पूर्व मृज् मार्जन करना के ऋ को वृद्धि होती है।[1]

प्रमार्ष्टि —भ० का० 18.28 लट् प्र० पु० एक व०

भ० का० में अपित् सार्वधातुक प्रत्ययों से पूर्वशीङ् सोना धातु के ई को गुण हो जाता है।[2]

शेध्वम् —भ० का० III.44 लोट् म० प्र० ब० व०

शेते —भ० का० 18.2 लट् प्र० पु० एक व०

भ० का० में शीङ् से परे झ स्थानिक "अत्" को रूट् आगम होता है।[3]

अतिशेरते —भ० का० 18.25 लट् प्र० पु० ब० व०

भ० का० में रूद्, स्वप्, श्वस्, अन्, जक्ष, इन से परे व बलादि सार्वधातुक को इट् आगम होता है।[4]

रोदिति —भ० का० 18 1 रोदिमि—भ० का० 18.39 उ० प्र० एक व.

स्वपिति —भ० का० 18·10 समाश्वसिमि—भ० का० 18.10 लट् उ० प्र० एक व०

---

1. अष्टाध्यायी, 7.2.14
2. वही, 7.3.21
3. वही, 7.1.6
4. वही, 7.2.76

प्राणिमि —भ० का० 18.10, जक्षिति—भ० का० 18.19
लट् प्र० पु० एक व०

भ० का० में हलादि पित् अपृक्त सार्वधातुक को ईट् आगम होता है।[1]

न्यश्वसीत् —भ० का० 15.24, 6.35 श्वसीः भ० का० 5.16
लुङ् म० पु० एक व०

प्राणीत् —भ० का० 15.102 लुङ्० प्र० पु० एक व०

गार्ग्य तथा गालव नामक आचार्यों के मत से इन पांच धातुओं से परे हलादि पित् अपृक्त सार्वधातुक को अ् आगम होता है।[2]

अरोदीत् —भ० का० 17.48 लङ् प्र० पु० एक व.

अट् आगम युक्त एक ही रूप भ० का० में मिलता है।

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से अन् धातु के न् को ण् होता है।[3]

प्राण —भ० का० 14.60 लिट् प्र० पु० एक व०

भ० का० में ईश् ईड् जन—इनसे परे सार्वधातुक से ध्वे को इट् आगम होता है।[4]

इडिषे स्म —भ० का० 18.15 लट् म० पु० एक व०

ईशिषे स्म —भ०का० 18.15 लट् म० पु० एक व०

ईड् धातु का प्रयाग लौकिक संस्कृत में दुर्लभ है। भ० का० में केवल एक रूप मिलता है।

भ० का० में ब्रु से परे हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् आगम होता है।[5]

ब्रवीति —भ० का० 18.17 लट् प्र० पु० एक व०

अब्रवीत् —भ० का० लङ् प्र० पु० एक व०

---

1. अष्टाध्यायी, 7.3 98
2. वही, 7.3.99
3. वही, 8.4.19
4. वही, 7.2.77-78
5. वही, 7.3.93

ब्रु को आह् आदेश होकर भी एक रूप भ० का० में मिलता है।

आह् स्म —भ० का० 18.18 लिट् प्र० पु० एक व०

भ० का० में अस् के अन्त्य अल् को "ए" हो जाता है "हि" परे होने पर।[1]

एधि —भ० का० XX.6 लोट् म० पु० एक व०

भ० का० में श्नम् के अ का तथा अस् (होना) के "अ" का कित्, ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर लोप हो जाता है।[2]

सन्तु —भ० का० XX.25 लोट् प्र० पु० ब० व०

भ० का० में गम्, हन्, जन्, खन्, घस् की उपधा "अ" का लोप हो जाता है।

अजादि कित्, डित् प्रत्यय परे होने पर तथा णित् और णित् प्रत्यय एवं न् से पूर्व हन् के ह् का घ् तन जाता है।[3]

आहनन् —भ० का० 17.7 लङ् प्र० पु० ब० व

भ का० में लोट् ल० मु० पु० ए० "हि" परे होने पर हन् को "ज्" आदेश होता है।[4]

जहि —भ० का० XX.12 लोट् म० पु० एक व०

भ० का० में अभ्यस्त संज्ञक धातु से झ के स्थान में "अत्" होता है।[5]

जाग्रति —भ० का० 18.24 लट् प्र० पु० ब० व०

भ० का० में शास की उपधा को 'इ" हो जाता है अङ् प्रत्यय परे होने पर तथा हलादि कित् ङित् परे होने पर।[6]

प्रशिष्या: —भ० का० XIX.19 लिङ् म० पु० एक व०

भ० का० में हि परे रहते शास् को—"शा" आदेश हो जाता है।[7]

---

1. अष्टाध्यायी, 6.4.199
2. वही, 6.3.111
3. वही, 6.4.98
4. वही, 7.3.54
5. वही, 6.4.36
6. वही, 7.1.4.
7. वही, 6.4.35

अनुशाधि —भ० का० XX.17 लोट् म० पु० एक व०

भ० का० में विद् ज्ञाने परे लट् के स्थान में णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल् व, म विकल्प से आदेश होते हैं ।[1]

वेत्थ स्म—भ० का० 18.18 वेद—भ० का० 18 22 लट् उ० प्र० एक व०
लट् म० पु० ब० व०

भ० का० में विद् धातु से लोट् परे होने पर आम् प्रत्यय, गुणाभाव, लोट् का लुक् लोडन्त् कृ का अनुप्रयोग निपातन किया है ।[2]

विदांकुर्वन्तु —भ० का० XX.28 लोट् प्र० पु ब० व०

लिट् लकार में एक रूप आम् पूर्वक कृ के साथ मिलता है ।

विदांचकार —भ० का० 14.50 लिट् प्र० पु० एक व०

भ० का० में ह् को ढ होता है झल् परे रहते अथवा पदान्त विषय में ।[3]

लेढि —भ० का० 18.7 लट् प्र० पु० एक व०

हुङ् का प्रयोग भ० का० में अप उपसर्ग पूर्वक मिलता है ।

अपहृषे —भ० का० 5.44 लट् म० प्र० एक व०

ख्या—भ० का० में ख्या धातु का प्रयोग आङ् उपसर्ग पूर्वक मिलता है।

आख्यात् —भ० का० 15.39 लङ् प्र० पु० एक व०
आख्यामि स्म —भ० का० 18.36 लट् उ० प्र० एक व०
आख्यामि —भ० का० 15.86 वही

आस् उपवेशने धातु का भ० का० में एक स्वतन्त्र प्रयोग तथा एक प्रयोग अधि उपसर्ग पूर्वक और एक सम और अधिक उपसर्ग पूर्वक सन्नन्त प्रत्ययों से विशेष अर्थों में मिलता है ।

आस्स्व —भ० का० XX.33, आसे, रहता हूँ
—लोट् म० पु० ए० व०

अध्यास्त —भ० का० 17.6, आरूढः—चढ़ा ।
लङ् प्र० पु० एक व०

---

1. अष्टाध्यायी, 3.4.83
2. वही, 3.1.41
3. वही, 8.1.31

समध्यासिसिषांचक्रे —भ० का० 14.16 समध्यासितु मिष्टवान्— रहने की इच्छा की। लिट् प्र० पु० एक व०

शासु धातु का प्रयोग भ० का० में आङ् पूर्वक इच्छा अर्थ में किया गया है।

आशशासिरे —अभीष्टवन्तः —भ० का० 14.70 इच्छा करने लगे। लिट् प्र० पु० एक व०

अशासत् —भ० का० 17.1 इऽछा की लङ् प्र० पु० एक व०

अनु तथा प्र पूर्वक शासु का प्रयोग "अनुशिष्टौ" अर्थ में हुआ है।

अनुशाधि —भ० का० प्रशिष्याः—भ० का० XIX.19 लोट् म० प्र० एक व०

वा—गति गन्धनयोः —(चलना, गन्ध देना) वा की गति अर्थ में प्रसिद्ध भ० का० में वायु सम्बन्धिनी गति से है। गन्ध देना अर्थ मे कोई प्रयोग उपलब्ध नहीं है।

मरुतं अनियतं वास्यति —भ० का० 16.6 वायु अनियत रूप से बहेगा। लृट्० प्र० पु० ए० व०

मनोरमो वायुः ववौ —भ० का० 14.67 मनोरम वायु बहने लगा। लिट् प्र० पु० ए० व०

घोरा वायव आववुः —भ० का० 14.97 भयानक वायु बहने लगी। लिट् प्र० पु० व० व०

सुद

सुदुः सहा वायवः अवान् —भ० का० 17.9 प्रचण्ड वायु चलने लगा। लङ् प्र० पु० एक व०

2. जुहोत्यादिगण

जुहोत्यादिगण के लगभग 50 धातुओं के रूप मिलते हैं। इनमें से 34 रूप वैदिक भाषा में तथा लौकिक भाषा में 16 रूप मिलते हैं। भ० का० में इस गण की 10 धातुओं के रूप मिलते हैं। ये दस धातुएँ ऐसे हैं जिनमें कोई भी विकरण नहीं लगा और धातु को द्वित्व हो गया।[1] ऐसी विकरणहीन धातुएँ निम्नलिखित हैं—

---

1 द्र.अष्टाध्यायी, 6.1.10.

हु—दानाऽदनयो:

इस धातु का प्रयोग भ० का० में छ: बार मिलता है।

1. जुहुधि: —भ० का० XX.11 लोट् म० पु० ए० व०
2. अहावयन् —भ० का० 17.1 णिजन्त लङ् प्र० पु०ए०व०
3. अजुहोत् —भ० का० 17.20 लङ् प्र० पु० एक व०
4. जुहुयात् —भ० का० XIX.13 विधिलिङ् प्र० पु० एक व०
5. जुहाव —भ० का० 14.93 लिट् प्र० पु० एक व०
6. जुहवांचकार —भ० का० 4.5 लिट् प्र० पु० एक व०

भी (डरना)

इस धातु के भ० का० में 10 प्रयोग मिलते हैं।

भ० का० में भी से परे हलादि कित्, ङित् सार्वधातुक परे होने पर विकल्प से ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है।[1]

विभीत: —भ० का० 18.31 लट् प्र० पु० द्वि० व०
विभीहि —भ० का० XX.27 लोट् म० पु० एक व०
अबिभे —भ० का० 17.34 लङ् मध्यम् प्र० पु० एक व०
अबिभयु: —भ० का० 17.58 लङ् प्र० पु० ब०व०
भेष्यति —भ० का० 16.40 लृट् प्र० पु० एक व०
बिभयांचकु: —भ० का० 14.78 लिट् प्र० पु० ब० व०
अभैषीत् —भ० का० 15.1 लुङ् प्र० पु० एक व०

भृज् —धारण करना तथा पालत करना

भृज् धातु में भ० का० में केवल दो रूप मिलते हैं। अभ्यास के, ऋ तथा ॠ का इ बन जाता है।[2]

1. बिभ्रति —भ० का० 18.24 लट् प्र०पु० ब०व०
2. अबिभरु: —भ० का० 17.53 लङ् प्र०पु० ब०व०

ऋ गतौ

इस धातु के भ० का० में दो प्रयोग मिलते हैं। ऋ तथा अभ्यास के

---

1. अष्टाध्यायी, 6.4.115
2. वही, 7.4.76-77

ऋ का इ बनता है और बाद में इ को यङ् आदेश हो जाता है।[1]

अर्रायसे —भ० का० 4.21 यङ्न्त लट् म० पु० एक व०

समारार्यन्त —भ० का० 17.73 सम आङ् पूर्वक यङ्न्त लङ् प्र० पु० व० व०

ओहाक 'त्यागे धातु के 8 रूप भ० का० में मिलते हैं। इस धातु के 'आ' को कित्, ङित् हलादि सविधातुक परे रहते विकल्प से 'इ' होता है। पक्ष में ई।[2]

जहित: —भ० का० 18.31 लङ् प्र० पु० द्वि० व०

भ० का० में हि परे रहते इस धातु को विकल्प से आकार अन्तादेश होता है। पक्ष में 'इ और ई भी।'[3]

जहीहि —भ० का० XX.10 लोट् म० प्र० एकवचन

अन्य रूप प्रजहु: —भ० का० 14.23 लिट् प्र० पु० एक व०

जहति —भ० का० 18.26 लट्० प्र० पु० ब० व०

जहाति —भ० का० XII.3 लट् प्र० पु० एक व०

जहीहि —भ० का० XX.10 लोट् म० पु० एक व०

जहि —भ० का० XX.33 लोट्० म० प्र० एक व०

जह्या: —भ० का० XIX.20 नि लिंग म० प्र० एक व०

अहासिषु —भ० का० 15.108 लुङ् प्र० पु० ब० व०

अहास्य: —भ० का० XXI.6 लुङ् म० प्र० एक व०

हेया: —भ० का० XIX.16 लिङ् मु० प्र० एक व०

भ० का० में यकारादि सार्वधातुक परे रहने पर 'हा' के आ का लोप हो जाता है।[1]

जह्या: —भ० का० XIX 20 विधि० मु० पु० एक व०

ओहाङ् गतौ धातु का केवल एक रूप भ० का० में मिलता है।

उज्जिहीषे: —भ० का० 18.27 लट् म० पु० एक व०

---

1. अष्टाध्यायी, 7.4.78.
2. वही, 6.4.116.
3. वही, 6.4.117.
2. वही, 6.4.118.

भ० का० में सार्वधातुक कित् या ङित् (अपित्) अजादि तथा हलादि प्रत्यय से पूर्व 'दा' देना तथा 'धा' धारण करना धातु के आ का लोप हो जाता है ।[1]

दा धातु के 4 रूप भ० का० में मिलते हैं ।

देहि —भ० का० XX.24 लोट्० म० पु० एक व०

दत्त: —भ० का० 8.96 लट् प्र० पु० द्वि० व०

अददु: —भ० का० 17.53 लङ् प्र० पु० ब० व०

आददीध्वम् —भ० का० XIX.8 आशीर्लिङ् म० पु० ब० व०

आदित्त —भ० का० 15.43 लुङ् प्र० पु० एक व०

धा धातु के 15 रूप भ० का० में मिलते हैं ।

दधामि —भ० का० 18.35 लट् उ० पु० एक व०

धहि —भ० का० XX.10 लोट् म० पु० एक व०

धत्त्व —भ० का० XX.31 लोट् म० पु० एक व०

अदधात् —भ० का० 17.27 लङ् प्र० पु० एक व०

अदधु: —भ० का० 17.54 लङ् प्र० पु० ब० व०

समाधत्त —भ० का० 17.84 सम पूर्वक लङ् म० पु० ब० व०

अभ्यधीयत् —भ० का० 17.35.

विधेयासु —भ० का० 2 वि० पूर्वक आशीर्लिङ् प्र० पु० ब० व०

धेया: —भ० का० XIX.16 आशीर्लिङ् म० पु० एक व०

विधास्यति —भ० का० 16.39 वि पूर्वक लुट् प्र० पु० एक व०

अभ्यधाम —भ० का० 15.13

उपाधित —भ० का० 15.47 लुङ् प्र० पु० एक व०

आधिषत —भ० का० 15.109 आङ् पूर्वक लुङ् प्र० पु० ब० व०

समाधात् —भ० का० XII.6 लुङ् प्र० पु० एक व०

अधास्यत् —भ० का० XXI.14 लुङ् प्र० पु० एक व०

भ० का० में परस्मैपद में लोट् म० पु० एक व० के हि प्रत्यय से पूर्व दा और धा से क्रमश: दे और ये अंग बनते हैं ।[2]

---

1. अष्टाध्यायी, 6.4.112.
2. वही, 6.4.119.

देहि —भ० का० XX.24 लोट् म० पु० एक व०

धेहि —भ० का० XX.10 लोट् म० पु० एक व०

जुहो, में धातु को द्वित्व करने के साधारण नियम

1. धातु के प्रथम अक्षर का द्वित्व होता है।[1] अर्थात् धातु के केवल उतने अंग का द्वित्व होता है जिसके अन्त में धातु का प्रथम अच् आता है। यथा—भी से बिभे—द्वित्व के समय जिस अवयव के दो समान उच्चारण होते हैं उनमें से प्रथम के लिए पाणिनीय व्याकरण में अभ्यास संज्ञा[2] तथा दोनों के लिए अभ्यस्त संज्ञा का व्यवहार किया है।[3]

यथा बिभीत: भ० का० 18.31 शब्द में बि अभ्यास संज्ञा और दोनों बिभी अभ्यस्त कहलाते हैं।

2. यदि धातु के प्रथम अक्षर का स्वर दीर्घ हो तो अभ्यास के उस स्वर को ह्रस्व हो जाता है।[4] यथा—हा से जहाति—भ० का० XII.3

3. धातु के जिस अवयव को द्वित्व होता है उसमें यदि एक से अधिक व्यंजन हों तो अभ्यास का आदि व्यंजन शेष रहता है।[5]

4. अभ्यास के महाप्राण व्यंजन अल्प प्राण में परिवर्तित हो जाते हैं।[6] यथा धा से दधा।

दधामि —भ० का० 18.35

दिवादिगण

दिवादिगण में लगभग 130 धातुओं के रूप पाए जाते हैं इनमें से 40 धातुओं के रूप लौकिक संस्कृत में तथा लगभग 60 धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में मिलते हैं। भ० का० 60 धातुओं के रूप दिवादिगण में मिलते हैं। भ० का० में अधिकतर धातुओं के रूप शारीरिक या मानसिक स्थिति से सम्बद्ध हैं। इस गण की धातुओं में कर्तृवाचक

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.1.
2. वही, 6.1.4-5.
3. वही, 6.1.4 5.
4. वही, 7.4.59.
5. वही, 7.4.60
6. वही, 8.4.54.

सार्वधातुक परे होने पर श्यन् प्रत्यय होता है। श्यन् अपित् सार्वधातुक है। अतः ङितवत् होने से इसके परे रहते धातु को गुण नहीं होता।[1]

दिवु

क्रीड़ा—विजिगीषा—व्यवहार धुति—स्तुति—मोह—मद—स्वप्न कान्ति—गतिषु—इन अर्थों में से केवल व्यवहार अर्थ में भ० का० में एक रूप मिलता है।

अदीव्यद् —भ० का० 17.87 लङ् प्र० पु० एक व०

गूरी—हिंसा गत्यो

मारना, जाना, भ० का० में 'गूरी' धातु का प्रयोग एक स्थान पर 'मारना, जाना' अर्थों से भिन्न 'उठाना' अर्थ में किया है। जबकि इसका ऐसा अर्थ दिवादिगण में नहीं है।

उज्जुगूरे—उत्क्षिप्तवान्—भ० का० 14.51 उठाया—लिट् प्र० पु० एक व०, चुरादिगण में 'गूरी' उद्यमने 'उठाने' अर्थ में मिलती है इसका एक प्रयोग प्राप्य है।

उदगूरीषत —भ० का० 15.34 लुङ् प्र० पु० ब० व०

वृतु वरणे धातु को भ० का० में वावृत वरणे। मानकर दिवादिगण की बताया गया है। शायद 'पत ऐश्वर्ये वा' के वा 'को' वृतु धातु से पहले पढ़कर इसे वा वृतु मान लिया है।[2]

ततो वावृत्यमानाऽसौ रामशालां न्यविक्षत—भ० का० 4.28

पुष्—पुष्टौ धातु प्रायः सकमर्क है पर भ० का० में तथा अन्यत्र इसका प्रयोग अकमर्क रूप में भी मिलता है।

अस्त्रीकोऽसावहं स्त्रीमान् स पुष्यतितरां तव—भ० का० 4.29

ये पत्नी रहित हैं, मैं पत्नी युक्त हूँ, वे ही तुम्हारे पति होने योग्य हैं।

इहाऽपुष्यत्सुराऽमिषैः —17.32 भ० का०।[3]

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.69.
2. व्याकरण चन्द्रोदय, तृतीय खण्ड, पृ० 127.
3. श्लोक 17.32 पर भ० का० टिप्पणी अत्र पुण धातुरन्तर्भावितण्यर्थं इति जयमंगल। वस्तु तस्तु पुषधातुरपि जि धातु क्त् अकर्मकः सकर्मकश्च।

यहाँ सुरा और मांस से पुष्ट हुआ ।

तृप् प्रीणने—तृप्त होना धातु सर्वत्र अकर्मकतया प्रयुक्त मिलती है लेकिन भट्टि ने (तर्पण) अर्थ में इसका सकर्मक प्रयोग भी किया है ।

अकर्मक—नाऽताप्र्सीद्‌भक्षयन्—भ० का० 15.48 खाता हुआ तृप्त नहीं हुआ ।

अद्य तप्स्र्यन्ति मांसाऽदा—भ० का० 16.29 आज मांस खाने वाले तृप्त होंगे ।

सकर्मक—पितॄन् आताप्र्सीः —भ० का० II.52 पितरों को तृप्त किया ।

वृतीगात्र विक्षेपे धातु के केवल दो रूप मिलते हैं ।

ननृतुः —भ० का० XIII.28, III.43 लिट् प्र० पु० ब० व०

णह् बन्धने धातु के भ० का० में अधिकतर प्रयोग सम उपसर्ग पूर्वक मिलते हैं । सामान्य रूप में यह धातु सकर्मक है पर 'सम' उपसर्ग पूर्वक यह अकर्मक बन जाती है । इसका अर्थ 'तैयार होना' बन गया है ।

समनह्यन् —भ० का० 17.4 लङ् प्र० पु० ब० व०
सन्नत्स्यामि —भ० का० 16.29 लृट् उ० पु० एक व०
समनात्सीत् —भ० का० 15.3 लुङ् प्र० पु० एक व०
समनद्धां —भ० का० 15.112 लुङ् प्र० पु० द्वि० व०

भ० का० में ग्रह्, ज्या, वय् (वेञ का आदेश) व्यध्, वश्, व्यच्क्ष, व्रश्च, प्रच्छ, भ्रस्ज्—इन धातुओं को सम्प्रसारण होता है कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर ।[1] इनमें से केवल व्यध् धातु के 6 रूप भ० का० में मिलते हैं—

आविध्यः —भ० का० XX.11 आ+लङ् म० पु० एक व०
अविध्यन् —भ० का० 17.12 लङ् प्र० पु० ब० व०
न्यविध्यत् —भ० का० 17.88 नि पूर्वक लङ् प्र० पु० ब० व०
अविध्यत् —भ० का० 17.92 लङ् प्र० पु० एक व०
अविध्यताम् —भ० का० 17.104 लङ् प्र० पु० द्वि० व०
अव्यात्सीत् —भ० का० 15.69 लुङ् प्र० पु० एक व०

1. अष्टाध्यायी, 6.1.73.

दिवादिगण की अन्य धातुओं के रूप भ० का० में इस प्रकार मिलते हैं—

नृती मात्र विक्षेपे—ननृतु: भ० का० XII.28, III.42 लिट्० प्र०पु० ब० व०

त्रसी उद्वेगे —अत्रस: II.34 लङ् म० पु० एक व०

संत्रेसू —भ० का० 14.37, तत्रस् भ० का० XIII.27 लिट् प्र० पु० एक व०

अत्रासीत् —भ० का० 15.58 लुङ् प्र० पु० एक व०

क्षिप्-प्रेरणे

अक्षिप्यत् —भ० का० 17.43, न्यक्षिपत् 6.140

उदक्षैप्सु —भ० 14.112 लिट्० प्र० पु० ब० व०

शो तनूकरणे —न्यश्यत् भ० का० 17.4 लङ् प्र० पु० ब० व०

छेदने चच्छु —भ० का० 14.101 लिट् प्र० पु० ब० व०

अच्छसीत् —भ० का० 15.40 लुङ् प्र० पु० एक व०

षो अन्तकर्मणि —अवसेया: भ०का० XIX.28 आशि लिङ् मु०प्र० एक व०

जनी प्रादुभार्वे —जन् धातु को 'जा' आदेश होता है शित् प्रत्यय परे होने पर ।[1]

अजायथा: —भ० का० 17.32 लङ् म० पु० एक व०

अजनिष्ट —भ० का० 15.88 लुङ् प्र० पु० एक व०

अजनि —भ० का० 6.32 लुङ् प्र० पु० एक व०

दीपी दीप्तौ —दीप्यस्व भ० का० XX.32, अदीप्येतां 17.104 लङ् प्र० पु० द्वि० व०

—अदीपिष्ट भ० का० 15.88 लुङ् प्र०पु०एक व०

पूरी आप्यायने
पुपूरिरे —भ० का० 14.2 लिट् प्र० पु० ब० व०

जूरी हिंसावयो-
हान्यो: —जुजूरे भ० का० XI.8 लिट् प्र० पु० ब० व०

क्लिश् उपतापे —चिक्लिशतु लिट् प्र०पु० ब०व०भ०का० III.32 चिक्लिश: भ०का० 6.17 लिट् म०प्र० एक व०

---

1. अष्टाध्यायी, 7.3.71.

पद् गतौ धातु का प्रयोग भ० का० में प्रति तथा उपसर्ग पूर्वक हुआ है।

प्रत्यपद्यथाः —भ० का० IX.121; प्रत्यपत्था भ० का० 15.14

आपादि —भ० का० 15.38

विद् सत्तायाम्—विधस्व भ० का० XX.33 लोट् म० पु० एक व०

बुध अवगमने —संबुध्यस्व भ० का० XX.33; मा स्म बुध्यथाः भ०का० 17.36; संभुत्सीष्ठाः भ० का० XIX.20

युध् सम्प्रहारे —अयुध्यत् भ० का० 5.101; संयोत्स्यामहे भ० का० 16.27; अयुद्ध भ०का० 15.34; अयुत्सत भ०का० 15.35, 15.60

मन ज्ञाने —अनुमन्यसे भ० का० 18.16; अबामंस्थाः भ० का० 15.14; मन्तासे भ० का० XXII.12
अनुमन्तास्वहे भ०का० XXII.23; अमंस्यत भ०का० XXI.10

सृज विसर्गे —विससर्जे भ० का० 14.107; ससर्जिथ भ० का० IX.48; व्यस्राक्षति भ० का०, 15.44; व्यसृष्ट भ०का० 15.55

लीङ् श्लेषणे —निलिल्पे भ०का ०14.76, न्यलेषत भ० का० 15.32

शुष शोषणे —समुच्छोत्स्यति भ० का० 16.17

तुष्प्रीतौ —तोक्ष्यति भ०का० 16.3; तुतुषुः भ० का० 14.112; तोष्टा भ० का० XXII.14; अतुषत भ०का० 15.8

श्लिष
आलिंगने —भा न श्लिक्ष् भ०का० 6.16
आश्लिष्यत भ० का० 17.95; विशिशलेषः भ०का० 14.34; समाश्लिक्षत् भ० का० 15.62

वि उपसर्ग पूर्वक इस धातु का अर्थ अलग होना, हो गया है।

ष्विदा गात्र प्रक्षरणे—आस्विदन् भ० का० 15.50

कुध—क्रोधे —अक्रुध भ० का० 15.19

षिधु संराद्धौ —सिध्यन्ति भ० का० XII.14

णश् अदशने —विनश्यति भ० का० 18.18; व्यनाशयन् भ०का० 17.77; प्राणशन् भ०का० 15.49; ढयति विनङ् भ० का० 16.26

दृप हर्ष मोहनयोः—अतिददर्प भ० का० 14.106

मुह् वैचित्ये —प्राभुह्यताम भ० का० 18.24; अमुह्य भ० का० 17 71; प्रभुह्येत् भ०का० XIX.17; संप्रमुह्येच् भ० का० XIX.21

मुमुहतुः भ०का० 14.47; मा मुहः भ०का० 15.16

भ० का० में शभु, दभु, क्षमु, भ्रमु, मुद् धातुओं के उपधा अकार को दीर्घ हो जाता है।[1]

शाम्यति —भ० का० 18.21; संशाम्यति भ० का० 18 28

दाम्यति —भ० का० 18.20

पर्यभ्राम्यन् —भ० का० 17.18; भ्राम्यन्ति भ०का० XII.72; अभ्राम्यच् भ० का० 17.15

क्लमु ग्लानौ —क्लाम्यन्ति भ० का० 18.6

क्लाम्यत् —भ० का० 17.10, 18.102

असु क्षेपणे —आस्यन् भ० का० 17.13; निरास्यन भ० का० 17.98

वि उपसर्ग पूर्वक इसका अर्थ विभक्त करना हो गया है।

निरास्येताम भ० का० 17 103

व्यास्यत् भ० का० IX.31

लुठ् विलोठते —लुठ्यन्ति भ० का० 17.11

भ्रंश् अधः पतने —अभ्रायत् भ० का० 17.21

जितृशा पिपासायाम्—अतृष्यन् भ० का० 17.18 अतृषन् 15.51

रुष् हिंसायाम् —धातु का भ० का० में क्रोध करना अर्थ दिया है।

ततोऽरुष्यदनर्दच्च भ० का० X.40

मा मुहोमा रुषोऽधुना भ० का० 15.16

कुप् क्रोधे धातु के दो प्रयोग मिलते हैं।

अकुप्यत् भ०का० 17.72; अकुपत् भ०का० 15.55

क्षुभ संचलने —अक्षुभत् भ० का० 15.38

क्लिद्र् आर्द्रीभावे— भ० का० क्लिद्यन्ति 18.11

---

1. अष्टाध्यायी, 7.3.74.

हृष् —प्राहृष्यन—भ० का० 17.47
वाश्रु —ववाशिरे भ० का० 14 104
यसु —अययास—भ० का० 14.104
आयसत् भ० का० 15.54
रुद्ध —आरुणत् भ० का० 17.49
समरुद्ध भ० का० 6.34
शुद्ध—शोधे —अशोत्स्यन् भ० का० XXI.13

स्वादिगण

स्वर स्वादिगण में लगभग 50 धातुओं के रूप बनते हैं। इनमें से लगभग 30 धातुओं के स्वादिगण के रूप केवल वैदिक भाषा में, तीन चार धातुओं के केवल लौकिक संस्कृत में और 20 धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक दोनों में मिलते हैं। भ० का० में लगभग 13 धातुओं के रूप स्वादिगण में मिलते हैं।

स्वादिगण की धातुओं से कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर श्नु प्रत्यय लगता है।[1] श्नु सार्वधातुक अपित् प्रत्यय है और अपित् सार्वधातुक ङितवत् होता है, अतः श्नु परे होने पर धातु के इक् को गुण नहीं होता।

अचिनोद्—भ० का० 17.69; चिनुयाद् भ० का० XIX.13

चिञ् चयने धातु के भ० का० में प्र० उप, निर्, आङ् उपसर्ग पूर्वक तथा केवल धातु के 8 रूप मिलते हैं।

अचैषुः भ० का० 15.76; आचिकाय भ० का० 14.46
निरचायि भ० का० 15.10 ; उपचायिष्ट भ० का० 6.33
प्राचिनुताम् भ० का० 17.85

स्तञ् आच्छादने धातु का परिपूर्वक एक रूप मिलता है।

परितस्तरुः भ० का० 14.11

डुकृञ करण धातु के भ० का० में 9 रूप तथा एक प्र उपसर्ग पूर्वक मिलता है।

प्रकुर्याम् भ० का० XIX.6; कुर्वन्ति भ०का० 7.7; कुरुते भ० का० 7.5; क्रियेरन् भ० का० XIX.3; क्रियाः भ० का० XIX.28; कुर्यात् भ०का० 7.10; कृषीदवं भ०का० 7.100; चकुः भ०का० 7.58

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.73.

अकृषातां भ० का० IX.37; अकार्षीत् भ० का० IX.35

वृज् वरणे धातु के दो रूप तथा दो प्र और सम् उपसर्ग पूर्वक मिलते हैं।

वरिषीष्ट भ० का० IX.25; अवरिष्ट भ० का० IX.26

प्रावारिषुः भ० का० IX.25; संवरिषीष्ठाः भ० का० IX.27

दु दु उपतापे धातु के भ० का० में तीन रूप तथा एक प्र उपसर्ग पूर्वक मिलता है।

अदुनोद् भ०का० 17.99; दुनुयान् भ०का० XIX.1; दुदाव भ०का० 14.84; प्रादुन्वन् भ० का० 17.15

हि गतौ वृद्धौ च धातु के भ० का० में 8 रूप मिलते हैं एक को छोड़कर सभी प्र उपसर्ग पूर्वक मिलते हैं।

प्रहिणोमि भ० का० 7.27; प्रहिणु भ० का० 1.21; प्राहिण्वन भ० का० 17.14; प्राहिणोत भ०का० 17.100; प्रजिघाय भ० का० 14.1; प्राहैष्टाम् भ० का० 15 105; प्राहैषीत् भ० का० 15 111; जिघ्ये भ० का० 14.26

आप्लृ व्याप्तौ धातु के भ० का० में अव, प्र० वि० सम उपसर्ग पूर्वक तथा केवल उपसर्ग रहित के 9 रूप मिलते हैं।

आप्नुहि भ० का० IX.115; आप्याः भ० का० 1.21
अवाप्स्यति भ० का० 16.21
प्राप्स्याव: भ० का० 16.27; प्राप भ०का० 14.43; प्राप्तास्थः भ० का० XXII 19
प्रापतां भ० का० 15.112
व्यापत् भ० का० 15.22
समवाप्यत् भ० का० 17.101

शक्लृ शक्तौ धातु का केवल एक रूप मिलता है।

अशकन्

राध साध संसिद्धौ—राध् धातु के भ० का० में दो रूप मिलते हैं।

अपराध्नोत भ० का० 17.21
रेधुः भ० का० 14.19

अप पूर्वक राध् का भ० का० में हिंसा अर्थ में प्रयोग होने पर यह सकर्मक बन गई है।

अशुङ् व्याप्तौ संघाते च धातु के भ० का० में अधिकतर प्रयोग वि उपसर्ग पूर्वक, केवल एक उपसर्ग रहित रूप मिलता है।

व्यश्नुते स्म भ० का० 18.1; व्यश्नुवते भ० का० 18.27
व्याश्नुत भ० का० 17.60; व्यानशे भ० का० 14.96
व्याशिषत भ० का० 15.43
आनशिरे भ० का० 14.19

जिधृषा प्रागल्भ्ये धातु के केवल दो रूप भ० का० में मिलते हैं।

अधृष्णोत् भ० का० 17.18; दधृषुः भ० का० 14.102

दम्भु दम्भने धातु का एक ही रूप मिलता है।

अदम्भिषुः भ० का० 15.3

तुदादिगण

लगभग 150 धातुओं के रूप तुदादिगण में बनते हैं। इनमें से लगभग आधे धातुओं के रूप केवल वैदिक भाषा में, लगभग 50 धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक दोनों में और लगभग 20 धातुओं के रूप केवल लौकिक संस्कृत में मिलते हैं। भ० का० में 33 धातुओं के रूप तुदादिगण में मिलते हैं।

भ० का० में तुदादि धातुओं से कर्तृवाचक सविधातुक परे होने पर 'श' प्रत्यय होता है।[1] अपित् सविधातुक होने से श परे रहते धातु के इक् को गुण नहीं होता।[2]

तुद् व्यथने धातु के भ० का० में 4 रूप उपलब्ध हैं।

अतुदन् भ०का० 17.12; अतुदत् भ०का० 17.89; अतौत्सुः भ०का० 15.4; अतौत्सीत्।

भ० का० 15.37 णुद् प्रेरणे धातु का केवल एक रूप मिलता है।

नुनोद भ० का० 14.109

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.77.
2. वही, 1.1.3.

दिश अतिसर्जने धातु के प्र और निर्, आङ् उपसर्ग पूर्वक तथा देना अर्थ में प्र पूर्वक मिलते हैं।

निर्देश करना अर्थ में निर् उपसर्ग पूर्वक
निरदिक्षच् भ० का० 15.8
आदेश के लिए आङ् उपसर्ग पूर्वक इस धातु का प्रयोग हुआ है।
आदिदेश भ० का० 14.64
भ्रस्ज पाके धातु का एक ही रूप मिलता है।
बभ्रज्ज भ० का० 14.86
क्षिप् प्रेरणे धातु का भी एक ही रूप है।
अक्षिपत् भ० का० 17.43

भ० का० में मुच् आदि धातुओं से "श" परे रहते नुम् आगम होता है।[1]

भ० का० में सित् होने से यह आगमन अन्त्य अच् से परे होता है।[2] मुच्लृ मोक्षणे धातु के 9 रूप प्र, आङ् तथा वि उपसर्ग पूर्वक मिलते हैं। आङ तथा प्र पूर्वक मुच् का बांधने अर्थ में प्रयोग हुआ है।

आमुंचत् भ० का० 17.6
प्रमोचयांचकार भ० का० 14.35
विमुच्यताम् भ० का० XX.26

मुंचामि भ०का० 18.28; अमुचन् भ०का० 7.57; मुमुचः भ०का० 1.2; अमोक्ष्याम भ० का० XXI.14; बमुचत् भ० का० 15.53; मुच्यन्ताम् भ० का० XX.23.

लिप उपदेहे धातु के 7 रूप अनु, वि, सम् और आङ् पूर्वक तथा दो उपसर्ग रहित रूप मिलते हैं।

अनुलिम्प भ० का० XX.11; समालिम्प भ० का० 17.5; लिम्पते भ०का० XIX 11; व्यलिम्पन् भ०का० 17.3; आलिपन् भ०का० 15.109; लिलेप भ० का० 14.94; व्यालिपन् भ० का० 15.6

---

1. अष्टाध्यायी, 7.1.59.
2. वही, 1.1.47.

षिच् क्षरणे धातु के 3 रूप अभि उपसर्ग पूर्वक तथा एक सामान्य प्रयोग मिलता है।

अभ्यषिचन् भ०का० 15.3; अभ्यषिचत् भ०का० 6.21; अभ्यषिक्त भ० का० 6.23; असिचत् भ० का० 17.94

कृती छेदने धातु के रूप निर् पूर्वक तथा पांच उपसर्ग रहित मिलते हैं।

न्यकृन्तन् भ० का० 17.12

अकृन्तत भ० का० 17.91; अकृन्तताम् भ० का० 17.104,

कर्त्स्यति भ०का० 16.15; अकर्त्स्यत् भ० का० XXI.17; अकर्तीत् भ० का० 15.97

खिद् परिघाते धातु का केवल एक ही रूप मिलता है।

अखिद्यद् भ० का० 17.10

जुषी प्रीति सेवनयो: धातु के दो रूप मिलते हैं।

अजुषत् भ० का० 17.112; जुजुषे भ० का० 14.95

ओलस्जी व्रीडायाम् धातु का एक ही रूप भ० का० में मिलता है। श्चुत्व विधि से स् को श् होकर जशत्व विधि से श् को ज् हो जाता है।

अलज्जिष्ट भ० का० 15.33

कृष विलेखने धातु का एक ही रूप मिलता है।

अक्राक्षीद् भ० का० 15.47

मृङ प्राणत्यागे धातु के 10 रूप भ० का० में मिलते हैं। यह धातु यद्यपि ङित् है तो भी इस से सभी लकारों में आत्मनेपद प्रत्यय नहीं होते। केवल लुङ् लिङ् में तथा जहां इस से श प्रत्यय होता है, वहीं आत्मने पद होता है अन्यत्र नहीं।

म्रिये भ० का० 18.36; अम्रियन्त भ० का० 17.18

मरिष्यामि भ० का० 16.13

ओव्रश्चू छेदने धातु के प्र उपसर्ग पूर्वक दो रूप मिलते हैं।

प्रावृश्चल् भ० का० 17.89

प्रावृश्च्यत भ० का० 17.107

उज्झ उत्सर्गे —औज्झीच् भ० का० 15.84

उम्भ पूरणे —औम्भत् भ० का० 17.88

शुभ शोभार्थे	—शुशुभतु: भ० का० 14.10
चृती—हिंसाग्रन्थनयो	—चर्त्स्यन्ति भ० का० 17.20
घुर भीभार्थशब्दयोः	—अघुरन् भ० का० 17.42; जुघुरुः भ० का० 14.40
वृह् उधमने	—उद्वृह भ०का० 17.90; उदवृहुः भ० का० 14.8
इषुइच्छायाम्	—प्रत्यैच्छन् भ०का० 17.28; प्रतीयेष भ०का० 14.36 प्रति उपसर्ग का यहाँ "ग्रहण करना" अर्थ में प्रयोग हुआ है।
कुट् कौटिल्ये	—संचुकुटुः भ० का० 14.105
स्फुर स्फुरणे	—पुस्फुरुः भ०का० 14.6; पुस्फुरे भ०का० 14.14
कृ विक्षेपे	—विचकार भ०का० 14.39; अकिरत् भ०का० 17.42
गृ निगरणे	—निजगरुः भ० का० 14.10
प्रच्छज्ञीप्सायाम्	—आपपृच्छे भ०का० 14.63; पपृच्छुः भ०का० 7.65
सृज—विसर्गे	—अस्राक्षुः भ० का० III.17
टुमस्जो—शुद्धौ	—निममज्जुः भ० का० 14.58; मज्जति भ०का० 18.42
रुजो भंगे	—रुरुजुः भ० का० 14.78
मृश् आमर्श ने	—परामृशत् भ० का० 17.38
व्यमृशत्	—भ० का० III.7

स्वादिगण

इस गण में लगभग 30 धातुओं के रूप बनते हैं और इसमें लगभग आधे धातुओं के रूप केवल वैदिक भाषा में मिलते हैं। भ० का० में 18 धातुओं के रूप मिलते हैं। इस गण की धातुओं से कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर श्नम् प्रत्यय आता है।[1] "न" विकरण धातु के अन्तिम अच् के बाद जोड़ा जाता है।[2]

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.78.
2. वही, 1.1.47.

रुधिर आवरणे धातु के स्वतन्त्र और निर् अनु तथा सम पूर्वक 9 रूप भ० का० में मिलते हैं।

अरुधत् भ० का० 15.10; अरुद्ध भ० का० 15.63

न्यरुध्यन्त भ० का० 17.28; अनुरोत्स्ये भ० का० 16.23

संरुरुधुः भ० का० 14.49

भिदिर विदारणे धातु के 8 रूप भ० का० में मिलते हैं।

अभिनन्दन् भ० का० 17.11

अभिनत् भ० का० 17.66

छिदिर् द्वैधी करणे धातु के 11 रूप मिलते हैं।

छिन्धिः भ० का० XX.12

छिनद्मि भ० का० 6.36

रिचिर विरेचने धातु का केवल एक रूप भ० का० में मिलता है।

रिणच्मि भ० का० 6.36

विचिर् पृथग्भाव के दो रूप वि पूर्वक मिलते हैं

विवेच भ० का० 14.103; विविनच्मि भ० का० 6.36

क्षुदिर् सम्प्रेषणे धातु के तीन रूप भ० का० में मिलते हैं।

अक्षुणत् भ० का० 17.66

अक्षौत्सुः भ० का० 15.43

क्षुणद्मि भ० का० 6.36

युजिर् योगे धातु के व्यवहार अर्थ में प्र पूर्वक दो रूप मिलते हैं।

प्रायुंजातम् भ० का० 17.104

प्रायुङ्क्त भ० का० 8.96

उतृदिर् हिंसानादरयोः धातु के भ० का० में वि पूर्वक एक दो तथा उपसर्ग रहित प्रयोग मिलते हैं। इस धातु का प्रयोग प्रायः वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है।

विवर्त्स्यति भ० का० 16.15

ततर्द भ० का० 14.23

तृणह्मि भ० का० 6.38

आदि धातुओं से श्नम् से परे न का लोप हो जाता है।[1] भ० का० में इस धातु का केवल एक ही रूप मिलता है।

---

1. अष्टाध्यायी, 6.2.23.

विन्ते: भ० का० 6.39

पिष्लृ संचूर्णने धातु के 6 रूप मिलते हैं।

अपिनट भ० का० 17.66; पेक्ष्यामि भ० का० 16.38; पिपिषु भ० का० 14.26; पिपेष भ०का० 14.80; अपिषच् भ०का० 15.37; पिनष्मि भ० का० 6.37

भंजो आमर्दने धातु के सात रूप मिलते हैं। इनमें न विकरण का लोप हो जाता है।

मनक्ति भ० का० IX.2; अमनक् भ० का० 17.42

हिसि हिंसायाम्

हिनस्मि भ० का० 6.38

मा न अंजी, भ० का० IX.49

भ० का० में अंजू धातु का व्यक्तिकरण अर्थ में एक ही प्रयोग मिलता है। तृह हिसि हिंसायाम्—धातु से श्नम् के बाद इम् आगम होता है हलादि पित् सविधातुक परे होने पर।

तृणेह्मि भ० का० 18.33; भ० का० 6.38

तृणहानि भ० का० XX.3

तृणेढु: भ० का० XX.13

तुचू संकोचन धातु का एक रूप मिलता है।

तनच्मि भ० का० 6.38

प्रची सम्पृक्ते धातु के दो रूप मिलते हैं।

अतृणक् भ० का० 6.39; सम्पृच्येताम् भ० का० 17.106

तनादिगण

पाणिनीय धातु पाठ में निर्दिष्ट 10 धातुओं में से केवल तीन धातुएँ भ० का० में पाई जाती हैं—

कृण्, क्षणु, और तनु

पाणिनीय धातु पाठ की 10 धातुओं तन्, सन्, क्षण्, क्षिण्, ऋण्, तृण्, घृण्, वन्, मन्, कृ में से क्षण्, क्षिण्, घृण् तथा तृण् के स्थान पर क्रमश: ऋ, क्षि, घृ और तृ मान कर स्वादिगण के अनुसार रूप बनाएं जाएं तो कोई अन्तर नहीं होगा। लिट्, लुङ् तथा लृट् में बनने वाले अंग अवश्य

भिन्न होंगे। अतएव तनादि गण में इन चारों धातुओं की गणना करना अनावश्यक है।[1]

भ० का० में इस गण की धातुओं से 'उ' प्रत्यय लगता है, कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर।[2]

तनु विस्तारे धातु के भ० का० में 6 रूप मिलते हैं। जिनमें से एक वि उपसर्ग पूर्वक मिलता है।

तनोति —भ० का० 18.20
तनुमः —भ० का० 18.32
अतनुताम् —भ० का० 17.85
अतन्यत् —भ० का० 17.70
अतानिष्टाम् —भ० का० 15.91
व्यतानीत् —भ० का० 1.11

क्षणु हिंसायाम् धातु के दो रूप भ० का० में मिलते हैं।

अक्षिणोत् —भ० का० 17.90
प्रचुक्षणुवुः —भ० का० 17.75

डुकृञ् करणे

भ० का० में इस धातु में पित् प्रत्यय से पूर्व कृ के ऋ को तथा विकरण के उ को गुण हो जाता है।[3]

करोमि —भ० का० 18.17, 18.36

अन्य रूप/कृ धातु के इस प्रकार हैं—

प्राकुर्वन् —भ० का० 17.1
करवाम —भ० का० XX.3
करवाणि —भ० का० XX.6
करिष्यामि —भ० का० 16.1
अकार्षीत् —भ० का० 16.3
अकृथाः —भ० का० 15.18
अकारिषत —भ० का० 15.76
अध्यकारिष्महि —भ० का० II.34

---

1. वैदिक व्याकरण, द्वितीय भाग, पृ० 244.
2. अष्टाध्यायी, 3.1.79.
3. वही, 7.3.84-86.

कृ को छोड़कर तनादिगण के शेष धातुओं के रूप सर्वथा स्वादिगण के रूपों के समान ही बनते हैं। तनादिगण में तन् सन् क्षण्, वन्, तथा मन् की गणना करना अनावश्यक है। इन धातुओं के साथ तनादि का विकरण 'उ' जोड़ने पर इनके धातु रूप सर्वथा स्वादि के धातु रूपों के समान बनते हैं। इस समानता के आधार पर पाश्चात्य विद्वान् ऐसे रूपों में स्वादिगण का 'नु' विकरण मानते हुए तनादि, की पृथकता को अनावश्यक समझते हैं। लिट्, लुट् तथा लृट् में बनने वाले अंगों से स्पष्ट है कि ये पाँचों धातु नकारान्त हैं।

पाणिनि ने कृ धातु के साथ तनादि के 'उ' विकरण का विधान तो किया है परन्तु सू० में "तनादि कृञ्भ्यउः" पा० सू० III.1.79. कृ धातु का तनानि गण से पृथक् ग्रहण किया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पाणिनि धातु पाठ पूर्णतया प्रामाणिक नहीं है और पाणिनि ने स्वादि० में कृ धातु की गणना करके इसके शेष रूपों का व्याख्यान करने के लिए उपर्युक्त सूत्र में इसके साथ 'उ' विकरण का व्याखयान किया होगा। पा० के अनुसार कृ मूलतः तनादि० की धातु नहीं थी।[1]

क्रयादिगण

लगभग 50 धातुओं के रूप क्रयादिगण में बनते हैं। इनमें से लगभग 30 धातुओं के रूप वैदिक भाषा में, पाँच छः के रूप केवल लौकिक संस्कृत में और लगभग 15 धातुओं के रूप वैदिक तथा लौकिक दोनों में मिलते हैं। भ० का० में इस गण की 22 धातुओं के रूप मिलते हैं।

भ० का० में इस गण की धातुओं से कर्तृवाचे सार्वधातुक परे होने पर श्ना प्रत्यय होता है।[2] यह शप् का अपवाद है। श्ना अपित् सार्वधातुक है अतः इससे पूर्व धातु को गुण नहीं होता।

प्रीण् तर्पणे कान्तौ च धातु के तर्पण अर्थ में दो प्रयोग भ० का० में मिलते हैं, कान्ति अर्थ में इसका प्रयोग दुर्लभ है।

प्रेष्यति भ० का० 16.4; पिप्राय भ० का० 7.64

---

1. वैदिक व्याकरण, द्वितीय भाग, पृ० 244.

2. वही, 3.1.81.

भ० का० में स्कुज् आप्रवणे, धातु का प्रति पूर्वक प्रयोग आच्छादित करना अर्थ में मिलता है।

प्रत्यस्कुनोद् भ० का० 17.83; अस्कुनाच् भ० का० 17.82

पु आदि धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते ह्रस्व होता है।[1]

पुनन्ति भ० का० 18.27; पुनीहि भ० का० XX.29

अलुनाद् भ० का० 17.42; लुलाव भ० का० XI.80

अलावीत् भ० का० II.53; लोलुयांचक्रे भ० का० 5.107

स्तृज् आच्छादने धातु का परि पूर्वक बिछाना अर्थ में प्रयोग मिलता है।

परितस्तरु: भ० का० 14.11

कृज् हिंसायाम् धातु के दो प्रयोग भ० का० में मिलते हैं।

कुरु भ० का० 34; अकरिष्यच् भ० का० XXI.4

वृज् वरणे का एक ही प्रयोग भ० का० में मिलता है।

प्रवृणीष्व भ० का० XX.23

ज्ञा अवबोधने के प्रयोग भ० का० में मिलते हैं।

अजानन् भ० का० 17.16; अजाना: 17.34; ज्ञासी: भ०का० 15.9, अज्ञायत् भ० काम 17.6

बन्ध बन्धने के दो प्रयोग भ० का० में मिलते हैं।

बधान भ० का० XX.22; अबध्नन भ० का० 17.112

भ० का० में क्र्यादिगण के विकरण से पूर्व हलन्त धातुओं के उपधा के नकार का लोप हो जाता है।[2]

बधान भ० का० XX. 22; आबध्नन् भ० का० 17. 112

यहां बन्ध धातु के उपधा के नकार का लोप होकर रूप के है।

अमथ्नाम् भ० का० 17.40; अमन्थीत् भ० का० 15.46

अस्तमन् भ० का० 15.31; अस्तम्भीत् भ० का० 15.31

अक्षुभ्नात् भ० का० 17.90; समक्षुभ्नत् भ० का० 17.108

---

1. वैदिक व्याकरण, द्वितीय भाग, 7.3.80.
2. अष्टाध्यायी, 6.4.24.

अतुम्नात् भ० का० 17.79, 90

भ० का० में क्षुम्ना आदि धातुओं में निमित्त होने पर भी न् को ण् नहीं होता ।[1]

अक्षुम्नात् भ० का० 17.90; समक्षुम्नन् भ० का० 17.108

मृदु क्षोदे —अतर्हीच् भ० का० 15.36

क्लिशू विबाधने —क्लिशनीत् भ० का० 18.35

अश् भोजने —अशान भ० का० XX.23; प्राश्नन् भ० का० 17.13

पुष प्लुषु —स्नेहन, मोचन, पूरणेषु, इनमें से प्लुष धातु भ० का० में दहन करना अर्थ मिलता है ।

प्लुष्णातु —भ० का० XX.74

मुष स्तेये धातु का हराना अर्थ में एक प्रयोग भ० का० में मिलता है ।

प्रामुष्णात् भ० का० 17.60 हरा दिया ।

ग्रह उपादाने

गृहाण भ० का० XX.2; व्यगृह्णीम् भ० का० 17.23

धृज् कम्पने —उद्धुनीयात् भ० का० XIX.8

ग्रन्थ सन्दर्भे —अग्रथ्नात् भ०का० 17.69; ग्रथ्नीयात् भ०का० XIX.9

भ० का० में स्तम्भु धातु तथा स्कुज् धातु से शप् के स्थान में श्ना होता है और श्नु भी ।[2]

अस्तभ्नन् भ० का० 15.31; अस्तम्भीत् भ० का० 15.31

प्रत्यस्कुनोत् भ० का० 17.83; अस्कुनाच् भ० का० 17.82

चुरादिगण

भ० का० में चुरादिगण की 37 धातुओं के प्रयोग उपलब्ध हैं इस गण की धातुओं से णिच् प्रत्यय आता है ।[3]

भ० का० में अजन्त अंग को जित्, णित् प्रत्यय परे होने पर वृद्धि होती है ।[4]

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.39.
2. वही, 3.1.82.
3. वही, 3.1.25.
4. वही, 7.2.115.

अंग की उपधा 'अ' को वृद्धि होती है, जिद्, णित् प्रत्यय परे होने पर ।[1] णिजन्त धातु से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मने पद प्रत्यय आते हैं ।[2] अन्यथा शेषात् कर्तरिपरस्मैपदम् से परस्मैपद ।[3]

चिन्त

अचिन्तयत् भ०का० 8.126, लङ् लकार प्र०पु० एक व० का रूप है।

लक्ष दर्शनांकनयो:	—अलक्ष्येताम् भ० का० 17.106 लङ् प्र०पु० द्वि० व०
पीड अवगाहने	—पीडयन्ति भ० का० 7.9 लट् प्र० पु० ब० वचन
तड आघाते	—अताडयन् भ० का० 17.7; अतताडत भ० का० 16.78
खडिभेदने	—अचखण्डच् भ० का० 15.54
तुल उन्माने	—भ० का० तोलयिष्यते 16.16
चूर्ण संकोचने	—अचूर्णयच् भ०का० 17.77; प्राचुचूर्णच् भ० का० 15.36
पूज—पूजायाम्	—अपूजयन् भ०का० 17.2; अपूपुजन् भ०का० II.26
कृत संशब्दने	—धातु के उपधाभूत ऋ को इ (इ) आदेश होता है ।[4] अचिकीर्तच् भ० का० 15.72
जसुहिंसायाम्	—उज्जासय भ० का० 8.120
दशि दंशने	—अदशन् भ० का० 17.13 ; स्यन्त्यन्ति भ० का० 16.17
मत्रि गुप्त परिभाषणे	—आमन्त्रयेत् भ० का० XIX.7
गूरी उद्यमने	—उद्गूरीषत् भ० का० 15.34
लक्ष—आलोचने विद्चेतनख्यान	—अलक्ष्येताम् भ० का० 17.106

---

1. अष्टाध्यायी, 7.2.116.
2. वही, 1.3.74.
3. वही, 1.3.78.
4. वही, 7.1.101.

निवासेधु	—समवेद्यन्त भ० का० 17.63
जसु कडने	—उज्जासय भ० का० 7.120
दल—विक्षरणे	—अदालयत् भ० का० 17.78
पूरी—आप्यायने	—अपूरयन् भ० का० 17.56; पूरयांचक्रु भ०का० 14.3; अपूर्यन्त भ०का० 17.56
अर्च—पूजायाम्	—प्रार्चिचच् भ० का० 15.95
ष मर्षणे	—प्रोदसहन् भ० का० 17.96
ईर् क्षेपे	—समीरयांचकार भ० का० 14.111; ऐरिरत् भ० का० 15.52
वृज्—आवरणे	—प्रत्यवारयन् भ० का० 17.49
शिष असर्वोपयोगे	—पर्यशेषयत् भ० का० 17.93
प्रीञ् तर्पणे	—अप्रीणयत् भ० का० 17.51
मृज् शौचालंकारयो:	—प्रामृजन् भ० का० 17.55; अमार्जीत् भ० का० 15.111
कथ वाक्य प्रबन्धे	—कथय भ० का० IX.120; कथमिष्यन्ति भ०का० 16.14
गण संख्याने	—अगण्यन् भ० का० 17.11 ; अजीगणत् भ० का० 15.45
मृग अन्वेषणे	—अमार्गीत् भ० का० 1.12
रूप	—न्यरूपयन् भ० का० 17.65
वृज्	—प्रत्यवारयन् भ० का० 17.49
व्यय	—अव्ययी: भ० का० 15.17
ष्टुञ् स्तुतौ	—अस्तुवन् भ० का० 17.70

धातु के रूप भ० का० में मिलते हैं।

तुष्टुविरे भ० का० 14.7
अभितुष्टाव: भ० का० 14.38
अस्ताविषु: भ० का० 15.70
अस्तोष्यत भ० का० XXI.3

स्फुर स्फुलने	—अस्फुरत भ० का० 7.9
स्मिङ प्रहसने	—स्मेष्यन्ते भ० का० 16.14 विसिष्मिथ भ० का० 14.37

अस्मेष्ट भ० का० 15.8

अप्लृ व्याप्तौ —आप्तारो भ० का० XXII.8

चतुर्दश सर्ग से द्वाविंश सर्ग तक लकार व्यवस्था

लिट् लकार

भट्टि काव्य में लिट् लकार का प्रचुर प्रयोग है। केवल चतुर्दश सर्ग में 220 प्रयोग उपलब्ध हैं। परोक्षे लिट् "भू" को वुक् का आगम होता है, लुङ् लिट् का अच् परे होने पर।[1] लिट् परक 'भू' के अभ्यास ऊकार को अकार होता है।[2] भू धातु का लिट् लकार में कोई प्रयोग नहीं मिलता। अभ्यासोत्तरवर्त्ती 'हि' धातु के हकार के स्थान में कवर्गादेश हो जाता है, किन्तु यङ् परे रहते यह आदेश नहीं होता।[3]

प्रजिघाय भ० का० 14.1

भ० का० में आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, तथा इष्णु के परे 'णि' के स्थान में अय् आदेश हो जाता है।[4]

वादयांचक्रिरे भ० का० 14.3

भ० का० में कित्, ङित्, लिट् तथा इडागम विशिष्ट यत् के परे 'फण' आदि सात धातुओं के सत् के स्थान में भी एत्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से होता है।[5]

सस्वनुः भ० का० 14.3; रेजुः भ० का० 14.7

आस्वेनुः भ० का० 14.4

भ० का० में अभ्यास के स्थान में ह्रस्व हो जाता है।[6] एच् के स्थान में इक् ही स्वादेश के रूप में आता है।[7]

जिहेषिरे भ० का० 14.5

1. अष्टाध्यायी, 6.4.88.
2. वही, 7.4.73.
3. वही, 7.3.56.
4. वही, 6.4.55.
5. वही, 6.4.125.
6. वही, 7.4.89.
7. वही, 1.1.48.

भ० का० में शर् प्रत्याहार हो पूर्व में जिसके ऐसे अभ्यासगत खय् को छोड़ कर शेष का लोप हो जाता है।[1]

पुस्फुटु: भ० का० 14.6

भ० का० में इदित् धातुओं को नुम् का आगम हो जाता है।[2]

ममंगिरे भ० का० 14.10

भ० का० में अंग संज्ञक 'ऋच्छ' के ऋ तथा ऋकारान्त धातुओं को लिट् के परे गुण आदेश हो जाता है।[3]

निजगरु: भ० का० 14.10

भ० का० में ऋच्छ धातु भिन्न गुरुमान् इजादि धातु से भी लिट् के परे रहते आ प्रत्यय होता है।[4]

ईक्षांचक्र भ० का० 14.18

भ० का० में मन्त्र से अतिरिक्त विषय में 'कास्' धातु तथा प्रत्ययान्त धातुओं से आम् प्रत्यय होता है लिट् के परे रहते।[5]

चकासांचक्रू: भ० का० 14.19

भ० का० में दीर्घीभूत अभ्यासस्थ अत् से परवर्ती 'अश्' धातु को भी नुट् का आगम हो जाता है।[6] लिट् के परे अभ्यास के आदिभूत अकार को दीर्घ हो जाता है।[7]

आनशिरे भ० का० 14.19

भ० का० में कित्, डित्, लिट् तथा सेट् यत के परेहिंसार्थक 'राध' धातु के अवर्ण के स्थान में भी एत्व तथा अभ्यास का लोप हो जाता है।[8]

रेधु: भ० का० 14.19

---

1. अष्टाध्यायी, 7.4.61.
2. वही, 7.1.58.
3. वही, 7.4.11.
4. वही, 3.1.36.
5. वही, 3.1.35.
6. वही, 7.4.72.
7. वही, 7.4.70.
8. वही, 6.4.123.

भ० का० में सद्, वस्, एवम् 'श्रु' धातुओं से परवर्ती लिट् को भाषा में विकल्प से क्वसु आदेश होता है ।[1]

शुश्रुवान् भ० का० 14.22

भ० का० में 'ग्रह' ज्या आदि धातुओं के यण् को सम्प्रसारण हो जाता है ङित् तथा कित् प्रत्ययों के परे होने पर ।[2]

विविधुः भ० का० 14 24

भ० का० में कित्, ङित्, लिट् तथा इडागम विशिष्ट थल् के परे 'तृ' 'फल' भज् तथा त्रप्, धातुओं के अत् के स्थान में भी एत्व एवम् अभ्यास का लोप हो जाता है ।

तेरुः भ० का० 14.27

भ० का० में असंयोगान्त धातु से परे विहित अपित् लिट् कित् होता है ।[3]

मुमुदे भ० का० 14.38

भ० का० में वच्, स्वप् तथा यज्ञ आदि धातुओं के यण् के स्थान में कित् प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण होता है ।[4]

ऊचुः भ० का० 14.38

ऊदे भ० का० 14.39

भ० का० में लिट् के परे रहते विकल्प से अद् धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश होता है ।[5]

जक्षुः भ० का० 14.40

दय, अय तथा आस धातुओं से आम् प्रत्यय होता है लिट् के परे रहते ।[6]

पलायांचक्रिरे भ० का० 14.41

दयांचक्रे भ० का० 14.42

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.108.
2. वही, 6.1.10.
3. वही, 1.2.5.
4. वही, 6.1.15.
5. वही, 2.4.40.
6. वही, 3.1.27.

भावी अभ्यस्त संज्ञा के कारण हेज् धातु के यण् के स्थान में भी द्विर्वचन से पूर्व ही सम्प्रसारण हो जाता है।[1]

आजुहाव भ० का० 14.44

भ० का० में उष, विद् तथा जागृ धातुओं से विकल्प से आम्प्रत्यय होता है लिट् के परे रहते।[2]

विदांचकार भ० का० 14.50

लिट् के परे अभ्यास के आदिभूत अकार को दीर्घ हो जाता है।[3]

आनंहे भ० का० 14.51; प्राण भ० का० 14.60

भ० का० में निष्ठा प्रत्यय के परे रहते 'ओप्यायी' धातु के स्थान में विकल्प से 'पी' आदेश हो जाता है।[4]

समापिप्ये भ० का० 14.62

भ० का० में इत्संज्ञक शकार—विशिष्ट प्रत्ययों से भिन्न प्रत्यय के परे आदेश काल में एजन्त धातु आकारादेश हो जाता है।[5]

निदध्यौ भ० का० 14.61

भ० का० में अजादि कित् तथा अनङ् भिन्न अजादि ङित् प्रत्ययों के परे 'गम्', हन्, जन्, खन् तथा 'घस' धातुओं की उपधा का लोप हो जाता है।[6]

उच्चरन् भ० का० 14.70

भ० का० में लिट् प्रत्यय के परे रहते 'व्येज्' धातु के स्थान का आकारादेश नहीं होता।[7]

संविव्यधुः भ० का० 14.75

भ० का० में भी, हृ, भृ, तथा हु धातुओं से विकल्प से आम्प्रत्यय होता है लिट् के परे रहते और इसमें श्लु के समान कार्य होते हैं।[8]

बिभयांचक्रुः भ० का० 14.78

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.38.
2. वही, 7.4.70.
3. वही, 6.1.28.
4. वही.
5. वही, 6.1.45.
6. वही, 6.4.98.
7. वही, 6.1.46.
8. वही, 3.1.39.

भ० का० में लिट् लकार तथा यङ् प्रत्यय के परे 'श्वि' धातु के यण् के स्थान में विकल्प से सम्प्रसारण होता है।[1]

शिश्वियु: भ० का० 14.79

शुशुवु: भ० का० 14.79

भ० का० में भ्रसज धातु के रेफ तथा उपधा के स्थान में विकल्प से रम् आदेश हो जाता है।[2]

बभ्रज्ज भ० का० 14.86

भ० का० में कित्, ङित्, लिट् के परे आदेश जिसके आदि में न हो ऐसे अंग संज्ञक धातु के असहाय अल्द्वय के मध्य में वर्तमान अत् के स्थान में एत् आदेश तथा अभ्यास का लोप हो जाता है।[3]

विलेपु: भ० का० 14.101

लुङ् लकार

भ० का० में भूत सामान्य में लुङ् लकार होता है।[4]

परस्मैपद में सिच् के परे इगन्त अंग को वृद्धि आदेश होता है।[5]

अभैषीत् भ० का० 15.1

भ० का० में चङ् परक णि प्रत्यय के परे अंग संज्ञक 'स्था' धातु की उपधा को इकार आदेश हो जाता है।[6]

प्रातिष्ठित् भ० का० 15.1

भ० का० में लुङ् के परे रहते इण् धातु को 'गा' आदेश होता है।[7] मा, स्था, धु संज्ञक धातु 'पा' और 'भू' धातुओं से परे सिच् का लुक् हो जाता है। परस्मैपद में।[8]

---

1. अष्टाध्यायी, 6.1.30.
2. वही, 6.4.47.
3. वही, 6.4.120.
4. वही, 3.2.110.
5. वही, 7.2.1.
6. वही, 7.4 5.
7. वही, 2.4.45.
8. वही, 2.4.77.

अभ्यगु: भ० का० 15.2; अपात् भ० का० 15.6

परस्मैपद में सिच् के परे इगन्त अंग को वृद्धि आदेश होता है।[1]

व्याहार्षु: भ० का० 15.2

भ० का० में लिप्, षिच्, एवं हेय् धातुओं से विहित च्लि को अङ् आदेश होता है।[2]

अभ्यषिचन् भ० का० 15.3; व्यलिपन् भ० का० 15.6

भ० का० में वद, व्रज तथा हलन्त अंग के अच् के स्थान में वृद्धि आदेश हो जाता है।[3] व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यजः, राज, भ्राज एवं थकारान्त और शकारान्त धातुओं के स्थान में, झल् के परे अथवा पदान्त में, षकारादेश हो जाता है।[4]

भ० का० में सकार के परे धातु के षकार तथा दकार के स्थान में ककारादेश हो जाता है।[5]

अदाङ्क्षु: भ० का० 15.4; अप्राक्षीत् भ० का० 15.5

अतौत्सु: भ० का० 15.4

भ० का० में लघु धात्वक्षर के परे जो अभ्यास उसके स्थान में चङ् हो पर में जिसके ऐसे णि के परे होने पर यदि अक् का लोप न हुआ हो तो सन् प्रत्यय के परे होने पर होने वाले सब कार्य हो जाते हैं।[6]

अवीवदन् भ० का० 15.4

गण् के अभ्यास को विकल्प से ई होता है यङ् परक णि परे होने पर।[7]

अजीगणत् भ० का० 15.5

---

1. अष्टाध्यायी, 7.2.1.
2. वही, 7.1.53.
3. वही, 8.2.37.
4. वही, 7.2.3.
5. वही, 8.2.41.
6. वही, 7 4.93.
7. वही, 7.4.97.

भ० का० में दीप्, जन्, बुध, पुर, ताय्, प्याय्, इनसे परे च्लि के स्थान में चिण् विकल्प से होता है कर्तृवाची एव वचन 'त' शब्द परे होने पर ।[1]

अबुद्ध भ० का० 15.5

भ० का० में यम, रम्, नम् तथा आकारान्त धातुओं को सक् का आगम हो जाता है और इनसे परवर्ती परस्मैपदी सिच् को इडागम भी हो जाता है ।[2]

अस्नासीत् भ० का० 15.6

अप्सासीत् भ० का० 15.6

भ० का० में झलादि अकित् प्रत्ययों के परे 'सृज्' तथा दृश्' धातुओं को अम् का आगम हो जाता है ।[3]

अद्राक्षीत् भ० का० 15.7

भ० का० में इगुपध शलन्त धातु से विहित अनिट् च्लि को क्स आदेश को जाता है ।[4]

निरदिक्षत् भ०का० 15.8

उपाविक्षत् भ० का० 15.8

भ० का० में इरित धातुओं से विहित च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है विकल्प से ।[5]

अरुधत् भ०का० 15.10

भ०का० में अस्, ब्रू, का आदेश वच्, चक्ष का आदेश ख्या इनसे लुङ् परे रहते अङ् प्रत्यय आता है ।[6]

भ० का० में ब्रु के आदेश वच् को उम् आगम होता है अङ् परे रहते ।[7]

प्रावोचम् भ० का० 15.11

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.61.
2. वही, 7.3.73.
3. वही, 6.1.58.
4. वही, 3.1.45.
5. वही, 3.1.57.
6. वही, 3.1.52.
7. वही, 7.4.20.

भ० का० में पुषादि धातुओं से परस्मैपद लुङ् में अङ् प्रत्यय आता है ।[1]

आगमत् भ० का० 15.13

भ० का० में माङ् निषेध वाचक उपपद होने पर अट् और आट् आगम नहीं होते ।

मा अनुभूः भ० का० 15.16; मा रुषः भ० का० 15.16[2]

भ० का० में आत्मनेपद के निमित्त न होने वाले "स्नु" तथा "क्रमु" धातुओं के वलादि आर्धधातुक को इडागम हो जाता है ।[3]

अत्यक्रमीत् भ०का० 15.17

भ० का० में भाव तथा कर्म के विषय में विहित लकार के प्रसंग में विहित स्य, सिच्, सीयुट् तथा तासि के परे उपदेश में अजन्त अंगों, हन्, ग्रह् तथा दृश् धातुओं से चिण् विधि के समान विकल्प से कार्य होता है ।[4]

अघानिषत् 15.17

भ० का० में हकारान्त, मकारान्त तथा यकारान्त अंग, क्षण, श्वस्, जागृ, णि तथा श्वि एवं एदित धातुओं के अच् के स्थान में भी परस्मैपदी इडादि सिच् के परे वृद्धि आदेश नहीं होता ।[5]

अव्ययीः भ० का० 15.17

भ० का० में कृत, चृत, वृत तथा नृत धातुओं से परवर्ती सिज् भिन्नार्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है ।[6]

अकर्तीत् भ० का० 15.97

भ० का० में णिजन्त "स्वापि" धातु के यण् के स्थान में सम्प्रसारण हो जाता है वङ् प्रत्यय के परे रहते ।[7]

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.55.
2. वही, 6.4.74.
3. वही, 7.2.36.
4. वही, 6.4.62.
5. वही, 7.2.5.
6. वही, 7.2.57.
7. वही, 6.1.18.

असूपुपत् भ० का० 15.98

भ० का०-में परस्मैपदी इडादि सिच् के परे हलादि अंग के लघुसंज्ञक अकार के स्थान में विकल्प से वृद्धि आदेश नहीं होता ।[1]

अगदीत् भ० का० 15.102

भ० का० में सन् प्रत्यय हो पर में जिसके ऐसे अवर्णपरक यण् के परे सु आदि धातुओं के अभ्यास को ह्रस्व हो जाता है ।[2]

अशिश्रवत् भ० का० 15.103

भ० का० में रकारान्त तथा लकारान्त अंग के अस् को परस्मैपद में सिच् के परे वृद्धि आदेश हो जाता है यदि वह अत् रेफ तथा लकार से अव्यवहीत पूर्व में वर्तमान हो ।[3]

अज्वालिषु: भ० का० 15.106

असूपुपत् भ० का० 15.98

भ० का० में परस्मैपदी इडादि सिच् के परे हलादि अंग के लघुसंज्ञक अकार के स्थान में विकल्प से वृद्धि आदेश नहीं होता ।[4]

अगदीत् भ० का० में सन् प्रत्यय हो पर में जिसके ऐसे अवर्णपरक यण् के परे "स्रु" आदि धातुओं के अभ्यास को ह्रस्व हो जाता है ।[5]

अशिश्रवत् भ० का० 15.103.

भ० का० में रकारन्त तथा लकारान्त अंग के अत को परस्मैपद ये सिच् के परे वृद्धि आदेश हो जाता है यदि वह अत् रेछ तथा लकार से अव्यवहीत पूर्व में वर्तमान हो ।[6]

अज्वालिषू: भ० का० 15.106

भ० का० में स्था धातु तथा घुसंज्ञक धातुओं से विहित सिच्

1. अष्टाध्यायी, 7.2.7.
2. वही, 7.4.81.
3. वही, 7.2.2.
4. वही, 7.2.7.
5. वही, 7.3.81.
6. वही, 7.2.2.

आत्मनेपद में कित् होता है और इन धातुओं के अन्त्य अल् के स्थान में इकारादेश भी ।[1]

भ० का० में स्वृ, पृड, षृड, धृज् एवं उदित धातुओं से उत्तरकर्मी वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है ।[2]

अमार्जीत् भ० का० 15.111

अमार्क्षीत् भ० का० 15.111

भ०का० में चङ् प्रत्यय हो पर में जिसके ऐसे णि प्रत्यय के परे अंग संज्ञक 'भ्राज्'', भास्, भाष्, दीप, जीव, मील तथा पीड शब्दों की उपधा को विकल्प से ह्रस्वादेश हो जाता है ।[3]

अबभासत् भ० का० 15.111

भ० का० में लुङ्, लङ्, लिङ् के परे अजादि धातुओं को आट् का आगम हो जाता है ।[4]

अभ्यार्दीत् भ० का० 15.115

भ० का० में उपदेश में अनुदात्त ऋकारोपध धातु को झलादि अंकित् प्रत्यय के परे विकल्प से अम् का आगम हो जाता है ।[5]

अक्राक्षीत् भ० का० 15.122

लृट् लकार

भ० का० में क्रियार्थ क्रिया के उपपदत्व में तथा अनुपपदत्व में भी भविष्यत् काल में धातु से लृट् लकार होता है ।[6]

भ० का० में ऋकारान्त धातुओं से तथा हन् से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् आगम होता है ।[7]

---

1. अष्टाध्यायी, 1.2.17.
2. वही, 7.2.44.
3. वही, 7.4.3.
4. वही, 6.4.72.
5. वही, 6.1.59.
6. वही, 3.3.13.
7. वही, 7.1.70.

करिष्यामि भ० का० 16.1; उपहनिष्यते भ० का० 16.12

भ० का० में भाव तथा कर्म के विषय में विहित लकार के प्रसंग में विहित स्य, सिच्, सीयुट् तथा तासि के परे उपदेश में अजन्त अंगों "हन्", ग्रह्, तथा दृश् धातुओं से चिण् विधि के समान विकल्प से कार्य होता है।[1]

जायिष्यते भ० का० 16.2

सन्दर्शिष्ये भ० का० 16.9

भ०का० में कृत, चृत, धृत, तृद तथा नृत, धातुओं से परवर्ती सिज् भिन्न आर्धधातुक को इडागम विकल्प से हो जाता है।[2]

कर्त्स्यति भ० का० 16.15

वितर्त्स्यति भ० का० 16.15

भ० का० में असम्भावना तथा अक्षमा के गम्यमान होने पर किसी भी शब्द के उपपदत्व में धातु से लिङ् तथा लृट् प्रत्यय होते हैं।[3]

कामयिष्यते भ० का० 16.21

किम्, किल तथा अस्ति, भवति एवं विद्यते के उपपद होने पर असम्भावना तथा अक्षमा अर्थों में धातु से लृट् प्रत्यय होता है।[4]

किंकिल अवाप्स्यति भ० का० 16.21

भ० का० में क्षिप्रवाचक शब्द के उपपदत्व में आशंसा के गम्ययान होने पर भविष्यत् काल में लृट् लकार होता है।[5]

विनङ्क्ष्यति भ० का० 16.26

एष्यति भ० का० 16.26

लङ् लकार

भ० का० में अनद्यतन भूतकाल में धातु से लङ् प्रत्यय होता है।[6]

---

1. अष्टाध्यायी, 6.4.62.
2. वही, 7.2.57.
3. वही, 3.3.145.
4. वही, 3.3.146.
5. वही, 3.3.133.
6. वही, 3.2.111.

आशासत् भ० का० 17.1

अस्नुः भ० का० 17.1

अह्वायन् भ० का० 17.1

अवाचयन् भ० का० 17.1

भ० का० में भक्षणार्थक 'अद्' धातु से परवर्ती अपृक्त संज्ञक हलादि सार्वधातुक प्रत्ययों को सब आचार्यों के मत में अट् का आगम हो जाता है।[1]

आदन् भ० का० 17.3

भ० का० में श्यन् के परे अंग संज्ञक ओकारान्त धातुओं का लोप हो जाता है।[2]

न्यश्यन् भ० का० 17.4

भ० का० में श् प्रत्यय के परे 'मुच्' आदि धातुओं को भी नुम् आगम हो जाता है।[3]

आमुञ्चत् भ० का० 17.6

भ० का० में शप् के परे अंग संज्ञक 'दंश', संज तथा ष्वंज के उपधा-स्थानीय नकार का लोप हो जाता है।[4]

अदशन् भ० का० 17.13

भ० का० में श्यन् के परे 'शम्' आदि आठ धातुओं को दीर्घ हो जाता है।[5]

अभ्राम्यत् भ० का० 17.15

भ० का० में स्तन्भु, स्तम्भु, स्कम्भु तथा 'स्कुज्' धातुओं से श्ना प्रत्यय होता है और श्नु प्रत्यय भी।[6]

व्यष्टम्नात् भ० का० 17.19

भ० का० में 'स्म' शब्दोत्तरक माङ् शब्द के उपपद होने पर धातु से

---

1. अष्टाध्यायी, 7.3.100.
2. वही, 7.3.71.
3. वही, 7.1.59.
4. वही, 6.4.25.
5. वही, 7.3.74.
6. वही, 3 1.82.

लुङ् प्रत्यय भी होता है और लङ् प्रत्यय भी ।[1]

मा स्म निगृह्णा: भ० का० 17.21

मा स्म तिष्ठत भ० का० 17.26

लट् लकार

भ० का० में वर्तमान अर्थ में धातु से लट् प्रत्यय होता है ।[2]

भ० का० में स्म शब्द के उपपद होने पर भूतानधात न परोक्षार्थ वृत्ती धातुओं से लट् प्रत्यय होता है ।[3]

व्यश्नुते स्म भ० का० 18.1

रोदिति स्म भ० का० 18.1

शेते भ० का० 18.2

भ० का० में वर्तमान समीपवर्ती भूत तथा भविष्यत काल में भी धातु से वर्तमानकालिक प्रत्ययों की तरह विकल्प से प्रत्यय होते हैं ।[4]

नियच्छसि भ० का० 18.3

भ० का० में भूत अनधतन अपरोक्ष अर्थ में वर्तमान धातुओं से भी स्म शब्द के उपपद होने पर लट् प्रत्यय होता है ।[5]

ईडिषे स्म भ० का० 18.15

ईशिषे स्म भ० का० 18.15

भ० का० में अपि तथा जातु के उपपद होने पर भी धातु से लट् प्रत्यय होता है निन्दा के गम्यमान होने पर ।[6]

जातु अज्ञा: वदन्ति भ० का० 18.16

अवैति भ० का० 18.16

भ० का० में भूतकालिक पृष्ट प्रतिवचन अर्थ में न तथा नु के उपपद

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.176.
2. वही, 3.2.123.
3. वही, 3.2.118.
4. वही, 3.3.131.
5. वही, 3.2.119.
6. वही, 3.3.142.

होने पर धातु से वैकल्पिक लट् प्रत्यय होता है।[1] नु ब्रवीति भ० का० 18.17; न करोमि भ० का० 18.17।

भ० का० में स्म शब्द रहित पुरा शब्द के उपपद होने पर धातु से लुङ् प्रत्यय तथा लट् प्रत्यय होते हैं।[2] पुरा त्यजसि भ० का० 18.18।

भ० का० मे कदा तथा कर्हि शब्द के उपपदत्व में धातु से भविष्यत् काल में विकल्प से लट् प्रत्यय होता है।[3] कर्हि को मे प्रियो वदति भ० का० 18 24।

आशीर्लिङ् लकार

भ० का० में विधि निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न तथा प्रार्थना अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है।[4]

आशी: अर्थ में धातु से लिङ् तथा लोट् प्रत्यय होता है।[5] विधेयासु: भ० का० XIX.2।

भ० का० में प्रैष आदि के गम्यमान होने पर ऊर्ध्व मौहूर्तिक अर्थ में वर्तमान धातुओं से लिङ् प्रत्यय भी होता है और यथा प्राप्त कृत्य प्रत्यय भी।[6] म्रियेय भ० का० IXI 5।

भ० का० में आशंसा वाचक शब्द के उपपद होने पर धातु में लिङ् प्रत्यय होता है।[7] जीवेम न आशंसा न हि भ० का० XIX.5।

भ० का० में 'कथम' शब्द के उपपद होने पर धातु से विकल्प से लिङ् तदा गर्हा के गम्यमान होने पर लट् प्रत्यय होते हैं।[8] कथं प्रकुर्याम् भ० का० XIX.6।

प्रयतेथा: भ० का० XIX.15 प्रार्थनायां लिङ्

भ० का० में किं शब्द निष्पन्न शब्द के उपपद होने पर धातु से लिङ् तथा गर्हा के गम्यमान होने पर लट् प्रत्यय होते हैं।[9] उत्सहेथा: भ० का० XIX.16।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.121.
2. वही, 3.2 122.
3. वही, 3 3.5
4. वही, 3.3.161.
5. वही, 3.3.173.
6. वही, 3.3. 164.
7. वही, 3.3.134.
8. वही, 3.3.143.
9. वही, 3.3.144.

भ० का० में इच्छार्थक धातुओं से वर्तमान काल में विकल्प से लिङ् प्रत्यय होता ।[1] इच्छेत्—भ० का० XIX. 25।

भ० का० में इच्छार्थक धातुओं के उपपद होने पर धातु से लिङ् तथा लोट् प्रत्यय होते हैं ।[2] आनन्देः—भ० का० XIX. 25।

लोट् लकार—भ० का० में विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् लकार भी होता है ।[3] प्रार्थनायां लोट्-वर्द्धस्व—भ०का० XX.1; निमन्त्रणे-भूषय ।

भ० का० XX. 15 यतस्व, विधौ—हन्यन्ताम् भ० का० XX.2; विधौ गृहाण भ० का० XX.2 ।

भ० का० में हु तथा झलादि धातुओं से उत्तरवर्ती हलादि "हि" के स्थान में "धि" आदेश हो जाता है ।[4] जुहुधिः हु—भ० का० XX. 11; अद्धिः—भ० का० XX. 12 ।

लृङ्—भ० का० में लिङ् के निमित्त के वर्तमान होने पर धातु से भूतकाल में लृङ् प्रत्यय होता है यदि किसी कारण से क्रिया की सिद्धि न हुई हो ।[5]

आशंकिष्यथाः—भ०का० XXI.1; अभविष्यत्—भ०का० XXI.2; आपास्यम्—भ०का० XXI.2।

"उताप्योः समर्थयोः" सूत्र से पूर्व जितने सूत्रों से लकारों का विधान किया जाएगा, उन सूत्रों से विहित लकार विशेष के साथ-साथ लिङ् निमित्त की वर्तमानता में धातु से भूतकाल में विकल्प से लृङ् प्रत्यय भी समझना चाहिए, यदि किसी कारण से क्रिया की सिद्धि न होती हो तो ।[6] आर्थयिष्यत्—भ० का० XXI.3 ।

भ० का० में असम्भावना तथा अक्षमा के गम्यमान होने पर किसी भी शब्द के उपपदत्व में धातु से लिङ् तथा लृट् प्रत्यय होते हैं ।[7] न अवदिष्यत्—भ० का० XXI.3; न अस्तोष्यत्—भ०का० XXI.3 ।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.160
2. वही, 3 3.157
3. वही, 3.3.162
4. वही, 6.4.101
5. वही, 3.3 139
6. वही, 3.3.141
7. वही, 3.3.141

लृट् लकार—भ० का० में अनद्यतन भविष्यत् काल में धातु से लुट् प्रत्यय होता है ।[1] प्रयातासि—भ० का० XXII 1; गाभ्रितासे—भ० का० XXII 2 ।

प्रक्रिया

भ० का० में 10 गणों एवं 9 लकारों के साथ ही आत्मने पद, परस्मैपद, षत्व, णत्व, सन्नन्त के भी प्रयोग पाणिनि क्रम से ही दिये गए हैं । इनके अतिरिक्त नामधातु, कण्डवादि धातु, यङ् लुगन्त यङन्त, कर्म कर्तृ भावकर्म, लकारार्थ, णिजन्त आदि प्रत्यय युक्त धातु के रूपों का भी भट्टि काव्य में विशद प्रयोग हुआ है । इनके विशेष प्रत्ययों को जोड़ कर जो धातु बनती है उसे "एक से अधिक अर्थवान् इकाई से बनने के कारण" प्रत्ययान्त धातु कहते हैं । प्रत्ययान्त धातुओं में प्रत्यय का योग धातु के साथ होने पर अर्थ में परिवर्तन हो जाता है । इन धातुओं में प्रत्यय का योग साथ होने पर लिङ् प्रत्ययों का योग मूल धातुओं के समान होता है ।

आत्मनेपद प्रक्रिया—भ० का० में अनुदात्तेत् तथा ङित् धातुओं से "ल" के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय ही आदेश होते हैं ।[2] अगाधत भ० का० 8.1 गाधृ प्रतिष्ठा लिप्सयोः 'लुङ्' ।

भ० का० में भाव व कर्मवाची लकार के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं ।[3] अभायत भ० का० 8.2 भा दीप्तौ" 'लुङ्' ।

भ० का० में परस्पर एक दूसरे का काम करे इस अर्थ में वर्तमान धातु से कर्त्ता में आत्मने पद हो ।[4] व्यत्यतन्वाताम भ० का० 8.3 ।

भ० का० में गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओं से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता ।[5] व्यत्यैताम्—भ० का० 8.3 व्यतिपूर्वक 'इण्' धातु; व्यत्यगच्छत्—भ० का० 8.4 व्यति पूर्वक 'गम्' धातु; व्यतिघ्नन्तीम्—भ० का० 8.5 व्यतिपूर्वक 'हन्' धातु ।

भ० का० में इतरेतर और अन्योन्य उपपद हो तो कर्मव्यतिहार अर्थ में धातु से आत्मनेपद नहीं होता ।[6] अन्योन्यं व्यतिभुतः स्म—भ० का०

---

1. अष्टध्यायी, 3.3. 15
2. वही, 1.3 12
3. वही, 1.3.13
4. वही, 6.3.14.
5. वही, 1.3.15
6. वही, 1.3.16

8.6 व्यतिपूर्वक "यु मिश्रणे" नि पूर्वक विश् से आत्मने पद होता है।[1] न्यविक्षत भ० का० 8.7 नि पूर्वक विश्।

भ० का० में अनुपसर्गक ज्ञा से कर्तृभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद होता है।[2] जानानाभिः—भ० का० 8.47।

एक स्थान पर भट्टि ने उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु से भी आत्मनेपद किया है जो अनुचित है। इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य। भ० का० 1.23 में समीपवर्ती पद के उच्चारण से कर्तृगामी क्रिया-फल के प्रतीत होने पर पहले सूत्रों से प्राप्त आत्मनेपद विकल्प से हो।[3] वहमानाभिः—भ० का० 8.49।

भट्टि काव्य में परस्मैपद प्रक्रिया—जिस धातु से जिस विशेषण को निमित्त मानकर आत्मनेपद का नियम किया गया उससे अन्य विशेषण "शेष" शब्द का अर्थ है। शेष से कर्त्ता के लकार वाच्य होने पर परस्मैपद होता है, अन्य नहीं।[4] पिबन्तीभिः—भ० का० 8.49।

भ० का० में अनु-परा-पूर्वक कृ से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर परस्मैपद होता है, लकार के कर्तृवाचक होने पर।[5] अनुकुर्वत्—भ० का० 8.50; पराकुर्वत्—भ० का० 8.50।

भ०का० में अभि-प्रति-अति पूर्वक क्षिप् से परस्मैपद ही होता है।[6] अभिक्षिपन्तम्—भ० का० 8.51।

भ० का० में प्र-पूर्वक-वह् से परस्मैपद ही होता है।[7] प्रवहन्तम् —भ० का० 8 52।

भ०का० में परिपूर्वक-मृष् से परस्मैपद ही होता है।[8] परिमृष्यन्तम् भ० का० 8.52।

भ० का० में विः आङ्-परि-पूर्वक-रम् से परस्मैपद आता है।[9]

---

1. अष्टध्यायी, 1.3.17.
2. वही, 1.3.76.
3. वही, 1.3.77.
4. वही, 1.3.78.
5. वही, 1.3.79.
6. वही, 1.3.80.
7. वही, 1.3.81.
8. वही, 1.3.82.
9. वही, 1.3 83.

अरमन्तम्—भ० का० 8.52; व्यरमत्—भ० का० 8.53; पर्यरमत्—भ० का० 8.53।

भ० का० में उप-पूर्वक|रम् से परस्मैपद होता है।[1] उपारंसीत्—भ० का० 8.54।

भ० का० में निगरण अर्थ वाली तथा चलना अर्थ वाली ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है।[2]

इस सूत्र का उदाहरण भट्टि काव्य में क्रमानुसार नहीं मिलता। भ०का० में जो धातु अण्यन्तावस्था में अकर्मक हैं तथा चेतन कर्तृक हैं उनसे ण्यन्तावस्था में परस्मैपद ही होता है।[3] अयोधयत्—भ० का० 8.56; नाशयेयम्—भ० का० 8.57; जनयेयम्—भ० का० 8.57; द्रावयिष्यामि—भ०का० 8.58; अचलयन्—भ०का० 8.60; अत्रासयन्—भ० का० 8.60।

भ० का० में पा, दम् आयम्, आयस्, परिमुह्, रुच्, नृत्, वद्, वस्, इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद का नियम नहीं लगता।[4]

भट्टि काव्य में नामधातु प्रक्रिया—भ० का० में क्यच्—भ० का० में क्रिया विशेष अर्थों पूजा, परिचर्या, विस्मित होना अर्थों में क्रम से नमस्, वरिवस्, चित्रङ् से क्यच् प्रत्यय किया गया है।[5] नमस्यन्ति—भ० का० 18.21 पूजयन्ति; वरिवस्यन्ति—भ० का० 18.21 परिचरन्ति; चित्रियन्ते—भ० का० 8.23 आश्चर्यी भवन्ति; अवरिवस्यन्—भ० का० 17.51 परिचरितवन्तः।

भ० का० में कर्मवाची द्वितीयान्त पद से क्यच प्रत्यय होता है, इच्छा अर्थ में जब इच्छा करने वाला द्वितीयान्त पद के अर्थ को अपने लिए चाहता है।[6]

अश्नीत पिबतीयिन्ती—भ० का० 5.92 स्वामिनी सती; मित्रीयतः—भ० का० 6.101 मैत्रीमिच्छतः।

काम्यच्—भ० का० में क्यच् के विषय में कर्मवाची द्वितीयान्त पद

1. अष्टाध्यायी, 1.3.84
2. वही, 1.3.87
3. वही, 1.3.88
4. वही, 1.3.89
5. वही, 3.1.19
6. वही, 3.1.18

से काम्यच् प्रत्यय भी होता है।[1] भ० का० में इसका एक ही प्रयोग मिलता है—रणकाम्यन्ति।

क्यङ्—भ० का० में आचार अर्थ में उपमानवाची कर्त्ता सुबन्त से विकल्प करके क्यङ् प्रत्यय होता है और सकार का लोप होता है।[2] ओजायमाना—भ० का० 5.76 तेजस्विनी भवन्ती। भ० का० में करने अर्थ में शब्द वैर, कलह, अभ्र, कण्व, और मेघ प्रातिपादक से क्यङ् प्रत्यय होता है।[3] वैरायते—भ० का० 18.9; अशब्दायन्त—भ० का० 17.19; वैरायमाणेभ्यः—भ० का० 5.75।

भ० का० में भू० धातु के अर्थ में अभूत तद्भावविषयक भृशादि शब्दों से क्यङ् होता है और भृशादिकों में जो हलन्त हैं उनके अन्त्य हल् का लोप होता है।[4]

अभिमनायेत—भ० का० 5.73; उत्सुकायेत; उत्सुकायमाना—भ० का० 5.74; उत्सुकी भवन्ती पण्डितायमानः—भ० का० 5.74; अपण्डितः पण्डितो भवन्।

भट्टिकाव्य में कण्ड्वादि प्रक्रिया—कण्डवादि धातुओं से यक् प्रत्यय नित्य होता है।[5] इस गण की भ० का० में चार धातुएँ उपलब्ध हैं। मन्तू अपराधे—मन्तूयिष्यति—भ० का० 16.31; वल्गुपूजा माधुर्ययोः—वल्गूयिष्यति—भ० का० 16 31; ववल्गुः XII 28

भट्टि काव्य में यङ् लुगन्त प्रक्रिया—भ० का० में इसके केवल दो ही रूप उपलब्ध हैं, यङ् लुगन्त धातु से परे हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय को ईट् आगम विकल्प में होता है।[6] बोभवीति—भ० का० 18.41 अत्यर्थं; शशमाचकुः—भ० का० 14.67 अत्यर्थं प्रशान्तानि।

भट्टि काव्य में यङन्त प्रक्रिया—भ० का० में क्रिया के बार-बार शीघ्र या निरन्तर अर्थ में, हलादि एकाच् धातुओं से यङ् प्रत्यय होता है।[7]

---

1. अष्टाध्यायी, 4.1.9
2. वही, 3.1.11
3. वही, 3.1.17
4. वही, 3.1.12
5. वही, 3.1.27
6. वही, 7.3 94
7. वही, 3.1.22

भ० का० में आर्धधातुक विषय में हल् से परे यकार का लोप होता है।[1]

यङ् परे हो तो वुङ् धातु के अभ्यास को चुत्व नहीं होता।[2] अको-कूयिष्ट—भ० का० 15.114 अत्यर्थं शब्दं कृतवत्; अत्वेभिदिष्ट—भ० का० 15.116 अत्यर्थं भिन्नवान्।

भट्टि काव्य में कर्मकर्तृ प्रक्रिया—भ० का० में कुष् तथा रंज् के कर्मकर्त्ता के वाच्य होने पर यक् के विषय में श्यन् और आत्मनेपद के स्थान में परस्मैपद विकल्प से होता है।[3] श्रीर्निष्कुष्यति लंकायाम्—भ० का० 18.22।

भ० का० में अजन्त धातु से विकल्प से च्लि को चण् होता है, कर्मकर्त्ता में "त" परे होने पर।[4] उपचायिष्टा सामर्थ्यं तस्य संरम्भिणो महत् भ० का० 6.33।

भ० का० में दुह् से भी कर्मकर्ता में "त" शब्द परे होने पर च्लि को चिण् विकल्प से होता है।[5] अदोहीव विषादोऽस्य—भ० का० 6.34।

भट्टि काव्य में भावकर्म प्रक्रिया—भ० का० में भाव तथा कर्म वाची सार्वधातुक परे होने पर धातु मात्र से यत् प्रत्यय आता है।[6]

भ० का० में भाव कर्मवाची तङ् परे रहते धातु मात्र से परे च्लि को चिण् आदेश होता है।[7] "त" शब्द परे रहते पर "चिण्" से उत्तर-वर्त्ती प्रत्यय का लुक् हो जाता है।[8] न्यश्वसी—भ० का० 6.34; समभावि—भ० का० 6.34।

भट्टि काव्य में लकारार्थ प्रक्रिया—भ० का० में धातु से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय होता है।[9] अन्वनैषीत्—भ० का० 6.140।

भ० का० में अनद्यतन भूतकाल में धातु से लङ् प्रत्यय आता है।[10] न्यक्षिपत्—भ० का० 6.140।

---

1. अष्टाध्यायी, 6.4.49
2. वही, 6.4.63
3. वही, 3.1.90
4. वही, 3.1.62
5. वही, 3.1.63
6. वही, 3.1.67
7. वही, 3.1.66
8. वही, 6.4.104
9. वही, 3.2.110
10. वही, 3.2.111

भ० का० में स्मृतिवाचक शब्द के उपपद होने पर अनद्यतन भूतकाल में धातु से लृट् प्रत्यय होता है।[1] सम्भविष्याव:—भ० का० 6.141।

भ० का० में माङ् के ऊपरी स्थान में यदि "स्म" शब्द भी पढ़ा हो तो धातु से लङ् भी होता है और यथा प्राप्त लुङ् भी।[2] क्रियार्थ क्रिया के उपपदत्व तथा अनुपपदत्व में भी भविष्यत् काल में धातु से लृट् लकार होता है।[3] सुग्रीवाऽन्तिकमासेदुः सादयिष्यामित्यरिम् भ० का० 7.3।

भ० का० में अनद्यतन भविष्यत् काल में धातु से लुट् प्रत्यय होता है।[3] कर्त्ताऽस्मि कार्यमायातैरेपित्यवनम्य सः—भ० का० 7.32।

भट्टि काव्य में णिजन्त प्रक्रिया—भ० का० में हेतु के प्रेरणा रूप व्यापार को कहने के लिए धातु मात्र से णिच् प्रत्यय आता है।[4]

भ० का० में णिच् के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा भूत "अ" को वृद्धि होती है। और णिच् के आर्धधातुक होने से उपधा भूत लघु इक् को गुण होता है। आशाययत्—भ० का० 17.111 शायितवत, अपातयत्; द्राघयन्ति—भ० का० 18.23 दीर्घी कुर्वन्ती; अभाजयत्—भ० का० 17.80 प्रहितवान्।

भट्टि काव्य में सन्नन्त प्रक्रिया—भ० का० में इष् धातु के कर्मकारी स्थानापन्न धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय विकल्प से होता है यदि "इष्" धातु का कर्त्ता ही उस कर्म स्थानिक धातु का कर्त्ता भी हो।[5] युयुत्सिष्ये—भ० का० 16.35।

भ० का० में इवन्त, ऋधु, भ्रस्ज, दम्भु, श्रि, स्वृ, यु, अर्णु, भर, ज्ञपि और सन् इन अंगों से परे क्लापि सन् अर्द्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है।[6] दिदेविषुम्—भ० का० XI.32 क्रीडितुमिच्छुम्; धिप्सुम्—भ० का० IX.33 दम्भितुम् इच्छुः; संशिश्रिषुः—भ०का० IX.33 संश्रयितु मिच्छुः; विभ्रक्षुः—भ० का० IX.34 भ्रष्टुमिच्छुरिव।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.112
2. वही, 3.3.183
3. वही, 3.3.15
4. वही, 2.1.26
5. वही, 3.1.17
6. वही, 7.2.49

भ० का० में इगन्त से परे जो झलादि सन् वह क्ति होता है।[1] रुरुदिषु—भ० का० 7.99 रोदनेच्छु नरं।

भ० का० में इक् समीपवर्ती हल् से परे इलादि सन् कित् होता है।[2] बुभुत्सवः—भ० का० 7.100 ज्ञानाऽभिलाषिणः।

भ० का० में इकार और उकार जिसकी उपधा और हल् आदि तथा रल् अन्त में हो, उससे परे सेट्, क्त्वा और सन विकल्प से कित् संज्ञक हो।[3]

भट्टि काव्य में षत्व प्रक्रिया—भ० का० में अपदान्त सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।[4] धूर्षु, त्वक्षु—भ० का० IX.67।

भ० का० में नुम् और विसर्जनीय और शर् प्रत्यहार इनके व्यवधान में भी इण् कवर्ग से परे अपदान्त सकार को षकार आदेश होता है।[5] आयूंषि—भ० का० IX.87।

भ० का० में षण् रूप सन् परे हो, तो स्तु और णिजन्त धातुओं के इणन्त अभ्यास से परे जो आदेश का सकार उसको मूर्धन्य आदेश होता है।[6] प्रतुष्टुषुः—भ० का० IX.69; आसिषंजयिषुः—भ० का० IX.61।

भ० का० में षण्रूप सन् परे हो तो स्विदि, स्वदि और सहि इन णिजन्त धातुओं के इणन्त अभ्यास से परे अपदान्त सकार को सकारादेश ही हो।[7] उत्सिसाहयिषन्—भ० का० IX.69।

भ० का० में स्था धातु से लेकर सित् धातु तक इण् कवर्ग से परे अभ्यास के व्यवधान में और अभ्यास के सकार को मूर्धन्यादेश होता है।[8] अभिषिषिक्षन्तम्—भ० का० IX.70।

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त इण् से परे सुनोति, सुवति, स्यति, स्तोति, स्तोभति, स्था, सेनय, सिच, संज और स्वंज इनके सकार को मूर्धन्यादेश होता है।[9] अभिष्यन्त—भ०का० IX.71।

---

1. अष्टाध्यायी, 1.2.9.
2. वही, 8.3.55.
3. वही, 1.2.10.
4. वही, 8.3.58.
5. वही, 1.2.26.
6. वही, 8.3.61.
7. वही, 8.3.62.
8. वही, 8.3.64.
9. वही, 8.3.63.

भ० का० में परि, नि, वि, उपसर्गों से परे सेव, सित्, सय, सिवु, सह, सुर, स्तु और स्वंज के सकार को मूर्द्धन्यादेश होता है ।[1] विषह्य—भ० का० IX.73 ।

भ० का० में अट् के व्यवधान में भी परि, नि, वि इन उपसर्गों से परे सिवादिकों के सकार को विकल्प से मूर्द्धन्यादेश होता है । व्यषह्य—भ० का० IX.73; पर्यषहिष्ट—भ० का० IX.73 ।

भट्टि काव्य में णत्व प्रक्रिया—भ० का० में रेफ और षकार से परे नकार को णकारादेश हो, यदि निमित्त और निमित्त एक पदस्थ हों ।[2] भुष्णन्तम्—भ० का० IX.92; विस्तीर्णोरः स्थलम्—भ० का० IX 92 ।

भ० का० में संज्ञा विषय में अग्रे से परे वन के नकार को णकार आदेश हुआ है । अग्रेवणम्—भ० का० IX.93 ।

भ० का० में संज्ञा विषय में गकार भिन्न निमित्त से परे नकार को णकार आदेश हो । खरणसादयः—भ० का० IX.93 ।

भ० का० में संज्ञा या असंज्ञा विषय में निर् और आम्र से परे वन शब्द के नकार को णकारादेश होता है । आमुवणादिभिः—भ० का० IX.94; निर्वणम्—भ० का० IX.94 ।

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे, ण्यन्त धातु से विहित कृतस्थ अचपूर्वक जो नकार उसको णकारादेश विकल्प से होता है ।[3] प्रहापणम्—भ० का० 4.104 ।

भ० का० मे उपसर्गस्थ निमित्त से और हलादि इजुपध धातु से परे, कृतस्थ अच् पूर्वक जो नकार, उसको णकारादेश विकल्प से होता है ।[4] रावणाऽमर्षप्रकोपणम्—भ० का० IX.105; आयुः प्रगोपणम्—भ० का० IX.105 ।

भ० का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे, इजादि सनुम् हलन्त धातु से विहित जो कृत् प्रत्यय, ततस्थ अच्पूर्वक नकार को णकारादेश होता है ।[5] वनाऽन्तेप्रेंखणम्—भ०का० IX.106 ।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.3.70.
2. वही, 8.4.1.
3. वही, 8.4.29
4. वही, 8.4.30.
5. वही, 8 4.31.

उपसर्गस्थ निमित्त से निस्, निक्ष् और निन्द् के नकार को णकारादेश विकल्प से होता है।[1] परिणिसकः—भ०का० IX.106; प्रणिन्द्य—भ० का० IX.106; प्रणिक्षिष्यति—भ०का० IX.106; भ०का० में उपसर्गस्थ निमित्त से परे मा०, भू०, पु० कमि, गमि, प्यायि और वेष धातु के कृत्स्थ नकार को णकार नहीं होता।[2] प्रगमनम्—भ० का० IX.107; अतिप्रवेपनम्—भ० का० IX.107; प्रभानम्—भ० का० IX.107।

भ० का० में षकारान्त नश् को णकारादेश नहीं होता।[3] प्रनष्ट विनयेन—भ० का० IX.108।

भ० का० में पदान्त षकार से परे नकार को णकारादेश नहीं होता।[4] दुष्पानः—भ० का० IX.108।

भ० का० में निमित्त और निमित्ति को पद व्यवधान हो, तो नकार को णकार नहीं होता।[5] रोषभीममुखेन—भ० का० IX.109।

भ० का० में क्षुभ्नादिक शब्दों में नकार को णकारादेश नहीं होता।[6] क्षुभ्नता—भ० का० IX.109।

---

1. अष्टाध्यायी, 8.4.33.
2. वही, 8.4 34.
3. वही, 8.4.26.
4. वही, 8.4 35.
5. वही, 8.4.38
6. वही, 8.4.39.

अध्याय सात

कृत् प्रत्यय

भट्टि काव्य में कृत प्रत्ययों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। लगभग 390 पाणिनीय सूत्रों के उदाहरण भट्टि काव्य में पाणिनि क्रम से दिए गए हैं। एक-एक सूत्र के एक से लेकर 6-7 तक भी उदाहरण मिलते हैं। प्रायः भट्टि काव्य में पाणिनि नियमों का अनुसरण पूर्णतया किया गया है। कहीं-कहीं कुछ अनियमितताएँ विभिन्न विद्वानों के अनुसार मिलती हैं, उन्हें यथा स्थान इस अध्याय में दर्शाया गया है। पाणिनि अष्टाध्यायी के 3.1.96 से लेकर 3.3.128 सूत्र तक पूर्ण रूप से पाणिनि क्रम अपनाया गया है। तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद् के कृत सम्बन्धी नियमों के उदाहरण क्रम से नहीं मिलते। सर्वप्रथम भट्टि काव्य में कृत्य प्रत्ययों का वर्णन सर्ग 6.47 श्लोक से 6.67 तक किया गया है। सर्ग 6.72 से 87 श्लोक तक निरूपपद-कृदधिकार को लिया गया है। सर्ग 6.88 से 94 तक सोपपद कृत् का प्रयोग हुआ है। भ० का० 6.95 से 108 श्लोक तक खश् और खच् प्रत्ययों का वर्णन है। यह अधिकार 5.97 से 104 श्लोक तक है। डाऽधिकार सर्ग 6.110 से 112 श्लोक तक। इसके बाद कृत् सोपपद का सर्ग 6.113 से 136 तक वर्णन है। अनुपपद कृत् सर्ग 6.137 से 139 तक है। ताच्छील्य कृत् का वर्णन सर्ग 7.1 से 7.27 श्लोक तक है। निरधिकार कृत् सर्ग 7.29 से 33 तक प्रयोग है। भाव में कृत् प्रत्यय सर्ग 7.34 से 85 श्लोक तक किये गये हैं। बीच में सर्ग 7.68 से 77 श्लोक तक स्त्रीलिंग कृत् प्रत्ययों के उदाहरण दिए गए हैं। इन कृत् प्रत्ययों का वर्णन करने के बाद भट्टि काव्य में इनमें प्रयोग होने वाले ङित्, कित् अधिकार का सर्ग 7.91 से 107 श्लोक तक इट् प्रतिषेध का सर्ग IX.12 से 22 श्लोक तक डाऽधिकार का सर्ग IX.23 से IX.57 श्लोक तक वर्णन किया गया है।

भ० का० में कृत् प्रत्यय के मुख्यतः दो भेद उपलब्ध होते हैं। 1. कृत् और 2. कृत्य। कृत्य प्रत्यय संख्या में अत्यल्प हैं। इसलिए आचार्य पाणिनि ने सूचीकटाहन्याय से पहले कृत् प्रत्ययों का अन्वाख्यान किया है।

कृत्यय प्रत्यय, तव्यत्, तव्य, य अनीयर, यत्, क्यप् और ण्यत् हैं। ये प्रत्यय सकर्मक और अकर्मक रूप-प्रकृति भेद से क्रिया तथा कारक दोनों के वाचक होते हैं।[1] किन्तु कृत् प्रत्यय सदैव कारक वाचक ही होते हैं। कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में ही विहित होते हैं। किन्तु कृत् प्रत्यय विशेषता कर्त्ता में होते हैं। कृत्य प्रत्यय कहीं-कहीं, करणादि कारकों के वाचक भी देखे जाते हैं। ये आर्धधातुक होते हैं। वलादि आर्धधातुक होने पर इनसे पूर्व सेट् धातुओं से परे इट् आगम होता है। भाव वाचक कृत्य प्रत्ययान्तों का उत्सर्ग से प्रथमा नपुंसकलिंग एक वचन में प्रयोग होता है और कर्मवाचकों का उनके विशेष्य भूत कर्म की विभक्ति, लिंग व वचन के अनुसार। पाणिनि की तरह भट्टि काव्य में कृत् प्रत्ययों का पाणिनि क्रम से अन्वाख्यान करते हुए सबसे पहले कृत्य प्रत्ययों का वर्णन किया गया है।

तव्यत्, तव्य, अनीयर्

ये प्रत्यय प्राय: सभी धातुओं से 'चाहिए' अर्थ में लगाए जाते हैं। ये प्रत्यय धातु से विहित किए जाते हैं।[2] वैदिक भाषा में इनका प्रयोग बहुत विरल है। भट्टि काव्य में इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

प्रष्टव्यं—भ० का० 7.47; चैतव्यान—भ०का० IX.13; कथनीयम्—भ०का० 6.47; जगदर्चनीयम्—भ० का० II.20; वचनीयम्—भ० का० XII.22।

भट्टि काव्य में 6.47 श्लोक की टीका में प्रष्टव्य में तव्यत् और तव्य दोनों प्रत्यय माने गए हैं। केवल स्वर का भेद माना है।

यत्—यह प्रत्यय "योग्य" अर्थ में धाज से भ० का० में प्रयुक्त है। अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है।[3] इसका केवल "य" शेष बचता है। धातु के स्वर को गुण हो जाता है। वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में इसका प्रयोग बाहुल्य से मिलता है। भट्टि काव्य में अनेक धातुओं के साथ इस प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। जेयं—भ० का० 6.47 जेतव्यम्।

पवर्गान्त अकारोपध धातुओं से यत् प्रत्यय होता है।[4] लभ्या—भ० का० 6.48।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.4.90.
2. वही, III.1.96.
3. वही, III.1.97.
4. वही, III.1.98.

शक् तथा सह्, धातुओं से यत् प्रत्यय होता है। शक्यः, सह्यः—भ० का० 6.48।

अनुपसर्गक गद्, मद्, चर्, तथा यम् से यत् प्रत्यय होता है। गद्यं—भ० का० 6.48 वाच्यम्; मद्यं—भ० का० 6.49 मदिर; पापचर्यः—भ० का० 6.49 क्रूरकर्मा।

करण अर्थ में वह धातु से यत् प्रत्यय होता है।[1] यहाँ कृत्य प्रत्यय यत् करण अर्थ का वाचक है।

तेन वह्येन हन्तासित्वमयँ पुरुषाशिनाम्—भ० का० 6.52 सहायन्भुतेनायँ में ऋ धातु से यत् प्रत्यय का निपातन स्वामी अर्थ में हुआ है।[2] जिसके गर्भग्रहण-काल की सम्प्राप्ति हो गई हो उसके अभिधान के लिए "उपसर्या" शब्द का निपातन होता है।[3] उपसर्यायाः—भ० का० 6. 53 उपसंक्रमणीयायाः। मित्रता के अर्थ में "अजर्यम्" शब्द का निपातन है।[4] अजर्यम्—भ० का० 6.54 अनपायम् टी बरो, मैक्डोनल, ह्विटने और एल, रेनो के अनुसार 'य' का उच्चारण इ अ (19) होना चाहिए।[5]

क्यप्

इस प्रत्यय का प्रयोग भ० का० में 'योग्य' अर्थ में ही हुआ है। सुबन्तोपपदक अनुपसर्ग 'वद' धातु से क्यप् तथा यत् प्रत्यय होते हैं।[6] अनृतोद्यं—भ० का० 6.55 अनृतवचनम्; वद धातु से ही यत् प्रत्यय होता है। सत्यवद्यं—भ० का० 6.55 सत्यवचनं 'भू' धातु से भाव में 'क्यप्' प्रत्यय होता है।[7] मित्रभूयं—भ०का० 6.55 गतस्तस्य मित्रत्वं गतः; वासभूयं—भ० का० III.21 वासत्वं गतः।

ल्यु, णिनि, अच्

कर्तृवाचक शब्द बनाने के लिए ल्युट् णिनि तथा अच् प्रत्यय लगते हैं। 'नन्द' आदि धातुओं से ल्यु प्रत्यय 'गृह' आदि धातुओं से णिनि प्रत्यय तथा 'वच्' आदि धातुओं के अच् प्रत्यय होते हैं।[8]

1. अष्टाध्यायी, 3.1.102
2. अष्टाध्यायी, 3.1.103.
3. वही, 3.1.104.
4. वही, 3.1.105
5. वही, 3.1.105.
6. वही, 3.1.106.
7. वही, 3.1.107.
8. वही, 3.1.134.

ल्यु—कपिनन्दन:—भ० का० 6.72; नन्दनानि—भ० का० 6.73; रमणानि—भ०का० 6.73; वाशनै:—भ० का० 6.74; रोचनै:—भ०का० 6.74।

णिनि—परि भावीणि, भ० का० 6.75; मन्थीनि—भ० का० 6.75 उद्भासीनि—भ० का० 6.75।

क—कर्तृवाचक शब्द बनाने के लिए क (अ) प्रत्यय धातु से लगता है। अच्-कद्वदं—भ० का० 6.76।

इगुपथ, ज्ञा, प्री तथा 'किर्' धातुओं से क प्रत्यय होता है।[1] अज्ञ:, प्रिय: वितृद:—भ० का० 6.77।

उपसर्गोपपदक आकारान्त धातुओं से भी क प्रत्यय होता है।[2] प्रग्ल: —भ० का० 6.77।

श—भ० का० में उपसर्गोपपदक 'पा' घ्रा 'ध्मा' धेट् तथा 'दृश्' धातुओं से 'श' प्रत्यय होता है।[3] उद्धमै:, उद्धयै:, आजिघ्रै:—भ० का० 9.78।

अनुपसर्गक धारि, पारि, उदेजि आदि से 'श' प्रत्यय होता है।[4] धारयै:, पारयै:, उदेजयै:—भ० का० 6.79।

शिल्पी अर्थ में 'गै' धातु से थकन प्रत्यय होता है।[5] अलिगाथकै: —भ० का० 6.85 भ्रमर गायकै; 'गै' धातु से शिल्पी अर्थ में ण्युट् प्रत्यय होता है।[6] गायकै:—भ० का० 6.85।

व्रीहि तथा काल अर्थों में 'ओहाक्' तथा 'ओहाङ्' धातुओं से ण्युट् प्रत्यय होता है।[7] एकहायनसारंगगती—भ०का० 6.86। एक वर्षणजगमनौ; 'लू' धातुओं से समाहार अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है।[8] लवकौ—भ० का० 6.86 साधु च्छेदनौ।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.135.
2. वही, 3.1.136.
3. वही, 3.1.137.
4. वही, 3.1.138.
5. वही, 3.1.146.
6. वही, 3.1.147.
7. वही, 3.1.148.
8. वही, 3.1.149.

आशीरर्थ में धातुमात्र से वुन् प्रत्यय होता है।[1] जीवक:—भ० का० 6.87 जीव्यासम् ।

कृत् सोपपदाऽधिकार

इसके बाद भट्टि काव्य में कृत् सोपपदाऽधिकार प्रारम्भ होता है। यह अधिकार पाणिनि अष्टाध्यायी में 3.2 1 सूत्र से प्रारम्भ होता है। इन सभी प्रत्ययों के उदाहरण भट्टि काव्य में क्रम से दिए गए हैं। सर्वप्रथम अण्, क, टक्, अच्, ट, इन् खश्, ऋणि, खयुन्, खिष्णुच्, खुकण्, विवन्, कण्, विचप्, कण्, क्विप्, णिव, विट्, ण्विन्, विच्, मनिन्, क्वनिप्, वनिप् आदि सार्वकाल द्योनक प्रत्यय दिए गए हैं।[2] ये प्रत्यय उपपद सापेक्ष हैं तथा कर्ता में विहित होने के कारण कर्तृ वाचक हैं। इन प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द नाम विशेषण भूत है।

इन प्रत्ययों के बाद भूतकाल वाचक प्रत्ययों का भट्टि काव्य में अन्वाख्यान किया गया है। ये प्रत्यय णिनि, क्विप्, क्वनिप्, निष्ठा, ङ् वनिप्, अतृन्, लिट्, कानच्, क्वसु, लुङ् और लङ् हैं।[3]

तदनन्तर वर्तमान कालिक कृत् प्रत्यय, लट्, शतृ, शानच्, शानन् चानश्, तृन्, इष्णुच्, कसुनु, क्नु, घिनुण्, वुण्, युच्, उकण्, इनि, स, धुरच्, कुरच्, क्वरप्, रुक्, र, ड, कि, किन्, नजिङ् आरु, कुक्, वरच्, डु, ष्ट्रन, इत्र और क्त प्रत्ययों का वर्णन किया गया है।[4]

ये प्रत्यय भट्टि काव्य में काल की दृष्टि से वर्तमान काल में तथा कारक की दृष्टि से कर्त्ता कारक में होते हैं। इनमें से ष्ट्रन् प्रत्यय धे और धा धातुओं से कर्मकारक[5] में तथा दाम्, नी, रास् नी, शस्, युज्, यु, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह, पत् दश् और नह् धातुओं से करण कारक में होते हैं।[6] इत्र प्रत्यय कृ, धृ, लृ, षृ, खन्, सह तथा चर् और पूङ् एवं पूण् धातुओं से करण कारक में होता है। ऋषि और देवता का विशेष होने पर पूङ् पूज् धातुओं से कर्त्ता और करण कारकों में इत्र प्रत्यय होता है।[7]

---

1. अष्टाध्यायी, 3.1.150.
2. वही, 3.1.1-83.
3. वही, 3.2.84-122.
4. वही, 3.2.123-128.
5. वही, 3.2.181.
6. वही, 3.2 182,
7. वही, 3 2.186.

निष्ठा संज्ञक क्त प्रत्यय काल की दृष्टि से मुख्यतया भूतकाल में प्रयुक्त होता है। किन्तु, जिमिदास्नेहने प्रभृति जित् धातुओं से तथा मत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक एवं पूजार्थक धातुओं से यह प्रत्यय वर्तमान काल में भी होता है।[1]

अण्—भ० का० में कर्ममात्र के उपपद होने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है।[2] शत्रुलावौ—भ० का० 6.88।

भ० का० में कर्मोपपदक ह्वेज, वेष, तथा माङ् धातुओं से अण् प्रत्यय होता है।[3] व्योममायम्—भ० का 6.88।

क—भ० का० में आकारान्त अनुपसर्गक धातुओं से कर्म उपपद होने पर क प्रत्यय होता है।[4] शर्मदम्—भ० का० 6.89।

भ० का० में सुबन्त उपपद होने पर आकारान्त धातुओं से कर्त्ता में "क' प्रत्यय होता है।[5] विषमस्थः—भ० का० 6.89; कपिद्विपं—भ० का० 6.89; गोष्ठान्—भ० का० 2.14।

भ० का० में तुन्द और शोक कर्म उपपद होने पर क्रम से परिपूर्वक मृज् तथा अपपूर्वक नुद् से 'क' होता है।[6] शोकाऽनुपदम्—भ० का० 6.89।

टक्—भ० का० में ग तथा पा से टक् प्रत्यय होता है।[7] सुरापैः, सामगैः—भ० का० 6.91।

अच्—भ० का० में हृ से अच् होता है जब उद्मर—उत्क्षेपण, उठाना, फेंकना अर्थ न हो।[8] मनोहरम्—भ० का० 6.92 सुन्दरम्।

भ० का० में वय की प्रतीति होने पर भी से अच् प्रत्यय होता है।[9] वर्महरौ—भ० का० 6.92 कवचधारण।

भ० का० में आङ्पूर्वक हृ से अच् होता है जब धातु वाच्य क्रिया को कर्त्ता तच्छील होकर करता है।[10] सुखाऽऽहरः—भ० का० 6.92 आनन्दकरः।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.188.
2. वही, 3.2.1.
3. वही, 3.2.2.
4. वही, 3.2.3.
5. वही, 3.2.4.
6. वही, 3.2.5.
7. वही, 3.2.9.
8. वही, 3.2.9.
9. वही, 3.2.10.
10. वही, 3.2.11.

ट—भ० का० में अधिकरण उपपद होने पर चर् से ट प्रत्यय होता है।[1] सनिशाचरैः—भ० का० 6.94 राक्षस सहितैः।

ट प्रत्यय के सभी नियमों का यहाँ वर्णन न करके भट्टि ने पाँचवें सर्ग के 97 वें श्लोक से किया है। शायद काव्य प्रवाह में व्यवधान को रोकने के लिए ऐसा किया है। वनेचराऽग्रयाणां—भ० का० 5.97।

भिक्षा, सेना तथा आदाय के उपपद होने पर 'चर्' से ट प्रत्यय होता है।[2] भट्टि काव्य में केवल 'आदाय' शब्द से चर् धातु लगाकर ट प्रत्यय किया है। आदायचरः—भ०का० 5.97।

पुरस्, अग्रतः, अग्रे उपपद होने पर सृ से ट् प्रत्यय होता है।[3] अग्रेसरः—भ० का० 5.97।

भ० का० में पूर्व जब कर्तृवाचक उपपद से तो सृ से ट प्रत्यय होता है।[4] पूर्वसरः—भ० का० 5.97।

भ० का० में हेतु, ताच्छील्य, अनुलोम्य के द्योत्य होने पर कृ से ट प्रत्यय होता है।[5] हेतु अर्थ में—यशस्करसमाचारं—भ० का० 5.98; ताच्छील्य अर्थ में—दयाकरम्—भ०का० 5.98; त्वाच्छील्य अर्थं में—त्रपा-करः—भ० का० 5.29; हेतु अर्थ में—योगक्षेमकरं—भ० का० 5.50।

किंकरः—भ० का० 5.68।

भट्टि काव्य में 5.68 श्लोक की टीका में कहा गया है कि किंकरः शब्द में किंकरी जाति का बोध होने से हेतु अर्थ में 'कृञो हेतुताच्छल्यानु-लोम्येषु' 3.2.20 सूत्र से 'ट' प्रत्यय हुआ है। लेकिन काशिका में सूत्र 3.2.21 'दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलि-भक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजंघाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुःषु' में किं शब्द से कृ के उपपद होने पर कृ धातु से ट प्रत्यय होकर किंकरः रूप सिद्ध होता है। भट्टि काव्य में हेत्वादि अर्थ में ट प्रत्यय करके कहा है कि हेत्वादि की अविवक्षा में 3.2 21 दिवा⋯इस सूत्र से प्राप्त ट प्रत्यय का बोध होने से वार्तिक 'कियत्तद्बहुषु कृञोऽज्विधानम्।'[6] किम्, यत्, तद्, बहु—इनके

1. अष्टाध्यायी, 3.2.16. 2. वही, 3.2.17.
3. वही, 3.2.18. 4. वही, 3.2 19.
5. वही, 3.2.20. 6 वही, 3.2.21 पर वार्तिक।

उपपद होने पर कृ से अच् हो।" से अच् प्रत्यय होकर रूप बनेगा। जयमंगल के अनुसार सूत्र 3.2.21 दिवा···आदि से ट प्रत्यय उचित हो क्योंकि अच् विधान तो स्त्रीलिंग मात्र को विषय करके है। मल्लिनाथ के अनुसार 'किंकरा' आदि जो शब्द दिखाई देते हैं वे टाबन्त हैं इसलिए भ्रान्ति उचित नहीं है। किंकरः शब्द का प्रयोग समीचीन है। एक अन्य उदाहरण किंकराणाम्—भ० का० 9.3 में भी सूत्र 3 2.21 से ट प्रत्यय माना गया है।

दिवा, अन्त और अरुष् तथा किम् शब्दों के उपपद होने पर भट्टि काव्य में कृ धातु से ट प्रत्यय हुआ है।[1] दिवाकरः, अन्तकरः, भ० का० 5.99; अरुष्करम्—भ० का० 5.100; किंकराणा—भ० का० 9.3।

भ० का० में कर्म उपपद कृ धातु से प्रत्यय होता है, भृति के गम्यमान होने पर। कर्मकरोपमः—भ० का० 5.99।

भ० का० में वैर शब्द और कलह शब्दों से इनके उपपद होने पर हेत्वादि की प्रतीति होने पर कृ धातु से ट प्रत्यय नहीं होता।[2] अण् प्रत्यय होगा। वैरकारः—भ० का० 5.100; कलहकारः—भ० का० 5.100; शब्दकारः—भ० का० 5.100।

यहां शब्दकारः में कुछ विद्वान् 3.4.53 सूत्र द्वितीयायंच सूत्र से णमुल् मानते हैं।[3] पक्षी सिंहनाद करके आकाश में उड़ा मानने से यह अर्थ सिद्ध होता है। किन्तु मल्लिनाथ[4] के अनुसार यहाँ णमुल् मानने से सूत्रोदाहरण प्रक्रम भंग दोष हो जाएगा। इसलिए यहाँ अण् प्रत्यय ही मानना उचित है।

इसके बाद भट्टि काव्य में पाणिनि क्रम के 4 सूत्रों के उदाहरण छोड़ दिए गए हैं इसमें से एक तो वैदिक सूत्र है—तथा अन्य तीन इन् प्रत्यय का विधान करते हैं। एक सूत्र का उदाहरण भट्टि काव्य में अन्यत्र दिया गया है।

"फलेग्रहि', तथा "आत्मंभरि" आदि शब्द निपातित होते हैं।[5] फलेग्रहीन्, आत्मम्भरिः—भ० का० 2.33।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.21.
2. वही, 3.2.22.
3. वही, 3.2.23.
4. भट्टि काव्य, 5.100 पर टीका।
5. अष्टाध्यायी, 3.2.26.

फलेग्रहि पद व्याकरण और कोष में योगरूढि से फलसम्बन्धि वृक्ष का वाचक है लेकिन यहाँ योगवृत्ति से फल ग्रहण करने वाले मुनि का वाचक है।[1] पाणिनि सूत्र में 3.2.26 में "फलेग्रहि" फल सम्बन्धि वृक्ष के अर्थ में निपातित है पर भट्टि काव्य में फल ग्रहण करने वाले मुनि के अर्थ में निपातित हैं अतः यह प्रयोग उचित नहीं है। लेकिन डॉ० नारंग[2] ने सायणाचार्य का मत देते हुए इस प्रयोग को ठीक बताया है। सायणाचार्य के अनुसार ग्रह धातु केवल ग्रहण करने के अर्थ में ही प्रयोग नहीं होती अपितु खाने के अर्थ में भी प्रयोग होती है। जैसा कि भट्टि काव्य में इसका प्रयोग खाने के अर्थ में किया गया है। अतः यह प्रयोग उचित है।

खश्—भ० का० में कर्मोपदक "एज्" धातु से खश् होता है।[3] सत्तवमेजय—भ० का० 6.95।

भ० का० में स्तन शब्द उपपद होने पर धेट् धातुओं से खश् प्रत्यय होता है।[4] स्तनन्धय—भ० का० 6.95।

भ० का० में कर्मत्वविशिष्ट नाडि शब्द के उपपद होने पर ध्मा धातु से खश् प्रत्यय होता है।[5] नाडिन्धमान्—भ० का० 6.95।

भ० का० में कुल कर्म उपपद होने पर उद् पूर्वक रूज्, वह से खश् प्रत्यय होता है।[6] कुले कूलमुद्वहाः—भ० का० 6.96; कूलमुद्रुजैः—भ० का० 6.96।

खच्—भ० का० में प्रिय, वश उपपद होने पर वद् से खच् प्रत्यय होता है।[7] वशंवदः—भ० का० 6.101; प्रियंवदः—भ० का० 6.102।

भ० का० में द्विषत् और पर कर्मवाची उपपद होने पर "तापि" से खच् प्रत्यय होता है।[8] परन्तपः—भ०का० 6.102; द्विषन्तपम्—भ०का० 6.102।

---

1. भट्टि काव्य, श्लोक 2.33 पर टीका।
2. भट्टि काव्य, ए स्टडी, 1969, पृ० 101.
3. अष्टाध्यायी, 3.2.28.
4. वही, 3.2.29.
5. वही, 3.2.30.
6. वही, 3.2.31.
7. वही, 3.2.38.
8. वही, 3.2.39.

भ० का० में सुप् उपपद होने पर गम् धातु से संज्ञा की प्रतीति होने पर खच् प्रत्यय होता है ।[1] हृदयंगमम्—भ० का० 6.109 ।

ड—भ० का० में अन्त, अत्यन्त, अध्वग, दूर, पार, सर्व, अनन्त—इनके उपपद होने पर गम् से ड प्रत्यय हो ।[2] भट्टि काव्य में दूर, अन्त और अत्यन्त तीन शब्दों के साथ इस प्रत्यय का प्रयोग मिलता है । दूरगैः अन्तगैः, अत्यन्तगः—भ० का० 6.100 । कर्मत्व विशिष्ट उपपदक 'हन्' धातु से आशीः अर्थ में ड प्रत्यय होता है ।[3] दस्युहः—भ० का० 6.111 ।

क्लेश तथा कर्म तमस् के उपपद होने पर अपिपूर्वक "हन्" धातु से "ड" प्रत्यय होता है ।[4] इस सूत्र के भट्टि काव्य में दोनों उदाहरण दिए गए हैं । तमोपहः—भ० का० 6.111; क्लेशाऽपहम्—भ० का० 6.112 ।

णिनि—भ० का० में कुमार तथा शीर्ष के उपपद होने पर "हन्" धातु से णिनि प्रत्यय होता है ।[5] यहां केवल शीर्ष शब्द का ही उदाहरण दिया गया है । शीर्षघातिनम्—भ० का० 6.113 ।

टक्—भ० का० में जाया, पति कर्मवाची उपपद होने पर हन् से, जब प्रत्ययान्त लक्षयुक्त कर्ता का वाचक हो तो टक् प्रत्यय होता है ।[6] भट्टि काव्य में केवल पति शब्द का ही मनुष्य भिन्न अर्थ में वर्तमान "हन्" धातु के कर्म के उपपद होने पर टक् प्रत्यय होता है ।[7] शत्रुघ्नान्—भ०का० 6.114 वैरिनाशकान् ।

हस्तिन् तथा कपाट उपपद होने पर हन् से जब शक्ति द्योत्य हो ।[8] यहाँ केवल भ०का० में हस्तिन् शब्द का उदाहरण मिलता है । हस्तिघ्नः—भ० का० 6.114 ।

क—पाणि तथा ताड शब्द के उपपद होने पर हन् धातु से क प्रत्यय होता है ।[9] भट्टि काव्य में केवल पाणि शब्द का उदाहरण मिलता है । पाणिघैः—भ० का० 6 114 ।

ख्युन्—अच्व्यक्त पर च्व्यर्थ में वर्तमान आढ्य सुभग स्थूल, पलित,

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.47.
2. वही, 3.2.48.
3. वही, 3.2.49.
4. वही, 3.2.50.
5. वही, 3.2.51.
6. वही, 3.2.52.
7. वही, 3.2.53.
8. वही, 3.2.54.
9. वही, 3.2 55.

नग्न, अन्ध, प्रिय —इन कर्मवाची उपपदों के होने पर कृ धातु से करण कारक अर्थ में ख्युन् प्रत्यय होता है।[1] भट्टि काव्य में आढ्य और प्रिय दो शब्दों के साथ कृ धातु से ख्युन् प्रत्यय किया गया है। आढ्यंकरणविक्रान्तः —भ० का० 6.115; प्रियंकरणम्—भ० का० 6.115।

खिष्णुच् खुकञ्—आढ्य आदि के उपपद होने पर भू से खिष्णुच् तथा खुकञ् प्रत्यय होते हैं। कर्तृकारक के अर्थ में…।[2] यहां भी भट्टि काव्य में केवल आढ्य और प्रिय इन दो ही शब्दों के उदाहरण मिलते हैं। प्रियम्भावुकताम्—भ० का० 6.116; प्रियम्भविष्णुः—भ० का० 5.116; आढ्यम्भविष्णु—भ० का० 3.1।

क्विन्—भ० का० में उदक भिन्न सुबन्त उपपद होने पर स्पृश् से क्विन् होता है।[3] व्योमस्पृशः—भ० का० 6.117।

ऋत्विक्, दधृष्, स्रज, दिश्, उष्णिह्, सोपपद अञ्चू, युञ्ज्, क्रुञ्च्, ये क्विन् प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं।[4] भट्टि काव्य में ऋत्विज् दधृष, युञ्ज् क्विन् अञ्चू, प्रत्ययान्त निपातन किए गए हैं। रामर्त्विक् भ० का० 6.118; युङ्—भ० का० 6.119; सध्र्यङ्—भ० का० 1.25; दिशः—भ० का० 6.119; पराङ्मुखैः—भ० का० 3.17।

कञ्, क्विन्—भ० का० में त्ययदादि सर्वनामों के उपपद होने पर दृश् से कञ् होता है और क्विन् भी जब दर्शन अर्थ न हो।[5] यद्यपि भट्टि-काव्य में क्रमानुसार इस नियम का कोई उदाहरण नहीं मिलता, लेकिन अन्यत्र 3 प्रयोग मिलते हैं।

समान व अन्य उपपद होने पर भी कञ् तथा क्विन् होते हैं।[6] भट्टि काव्य में इस वार्त्तिक का भी उदाहरण मिलता है। यादृक्—भ० का० IX.116; किदृक्—भ० का० IX.120; किदृश्—भ० का० IX.123; मृगसदृक्—भ० का० 6.121।

क्विप्—सद्, सु, दृष्, दुह्, युज्, विद्, भिद्, छिद् जि, नी राज्—

1. अष्टाध्यायी, 3.2.56.
2. वही, 3.2.57.
3. वही, 3.2.58.
4. वही, 3.2.59.
5. वही, 3.2.60
6. अष्टाध्यायी, 3.2.60, पर वार्तिक, समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्।

इनसे उपसर्ग—रूप अथवा अनुपसर्ग रूप सुबन्त उपपद होने पर क्विप् होता है।[1] भट्टि काव्य में इसके पाँच उदाहरण सद् द्रुह, सु, छिद् नी आदि के मिलते हैं। किष्किन्धाऽद्रिसदा—भ० का० 6.121; तनुच्छिदम्—भ०का० 6.123; वालिद्रुहं—भ० का० 6.122; यज्ञद्रुहाम्—भ० का० 6.27; अंगदस्वम्—भ० का० 6.122; वानरसेनान्या:—भ० का० 6.123।

णिव—भ० का० में भज् धातु से सुबन्त उपपद होने पर णि प्रत्यय होता है।[2] दूरभाक्—भ० का० 6.123; क्षितिपालभाग्भ्य:—भ० का० 3.21।

इसके बाद पाँच वैदिक सूत्रों को छोड़कर अग्रिम सूत्र का उदाहरण भट्टि काव्य में दिया गया है।

विट्—भ० का० में अन्न से भिन्न उपपद होने पर अद् से विट् प्रत्यय होता है।[3] प्राणादम्—भ० का० 6.123।

भ० का० में क्रव्य उपपद होने पर भी विट् प्रत्यय होता है।[4] क्रव्यात्त्रासकरम्—भ० का० 6.124।

कप्—भ० का० में सुबन्त उपपद होने पर दुह् से कप् प्रत्यय और दुह् के 'ह्' को 'घ्' हो जाता है।[5] कामदुघ:—भ०का० 6.124। इसके बाद 5 वैदिक सूत्र छोड़ दिए गए हैं।

वनिप्—भ० का० से सुबन्त उपपद होने पर अन्य धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच् आदि प्रत्यय लगते हैं।[6] भट्टि काव्य में केवल वनिप् प्रत्यय का उदाहरण मिलता है। अग्रेग्रावा—भ० का० 6.125।

क्विप्—भ० का० में सभी धातुओं से सोपपद हो अथवा निरुपपद, लोक में तथा वेद में क्विप् प्रत्यय होता है।[7] अभिभू:—भ० का० 6.125।

क—भ० का० में सुबन्तोपपदक स्था धातु से क प्रत्यय होता है।[8] शंस्थरूप:—भ० का० 6.125।

णिनि—भ० का० में अजातिवाची सुबन्त उपपद होने पर और

1. अष्टाध्यायी, 3.2.61.
2. वही, 3.2.62.
3. वही, 3.2.68.
4. वही, 3.2.69.
5. वही, 3.2.70.
6. वही, 3.2.75.
7. वही, 3.2.76.
8. वही, 3.2.77.

ताच्छील्य के गम्यमान होने पर धातुमात्र से णिनि प्रत्यय होता है।[1] रिपुघातिनम्—भ० का० 6.126; अभिमतफल शंसी—भ० का० 1.27; खविचारिणः—भ० का० 5.13।

"खाविचारिणः" में मल्लिनाथ[2] खे विचारः खविचारः, सोऽस्ति एषां तै खविचारिणस्तान् ऐसा विग्रह करके इसमें 'इनि' प्रत्यय ही मानते हैं। ऐसा प्रतिपादन करके णिनि प्रत्यय का निषेध करते हैं वह भाष्य विरोधी होने से अनुचित है। पुनः सुब्रहणेन उपसृष्टात् तन्निषेधादेतादृशस्थले न्व णिनि प्रत्यय। अतः यहां णिनि प्रत्यय हो ठीक है।

भ० का० में कर्तृवाची उपमान उपपद होने पर धातु मात्र से णिनि प्रत्यय होता है।[3] बान्धवक्रोशिनः—भ०का० 6.126; हंसगामिनी—भ०का० 5.18।

अन्यव्यासक्तघातित्वात्—भ० का० 6.129 अपर व्यग्र घातकत्वात्।

क्विप्—भ० का० में ब्रह्मन्, भृण्, वृत्र—इन कर्मवाची उपपदों के होते हुए हन् धातु से भूतकाल में क्विप् होता है।[4] भट्टि काव्य में ब्रह्मन् 'शब्द हन् धातु के साथ क्विप् प्रत्ययान्त मिलता है। ब्रह्मघ्नाम्—भ० का० 6.129 ब्राह्मणं हतवतां।

इनि—भ० का० में कर्म उपपद होने पर वि पूर्वक 'क्री' धातु से इनि प्रत्यय होता है। जब कर्म कर्त्ता की कुत्सा का निमित्त हो।[5]

मांसविक्रयिणः—भ० का० 6.132 विक्रीतमांसस्य, व्याधस्य।

क्वनिप्—भ० का० उपपद होने पर दृश् धातु से भूतकाल में क्वनिप् प्रत्यय होता है।[6] पापदृश्वना—भ० का० 6 132 दृष्ट पोपन।

भ० का० में राजन् कर्म उपपद होने पर युध्, कृञ् से भूत में क्वनिप् प्रत्यय होता है।[7] राजकृत्वा—भ०का० 6.133।

भट्टि काव्य में सह शब्द उपपद होने पर 'युध' धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है।[8] सहयुध्वानम्—भ० का० 6 133।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.78.
2. भट्टिकाव्य श्लोक 5.13 पर टीका।
3. वही, 3.2.79.
4. वही, 3.2.89.
5. वही, 3.2.93.
6. वही, 3.2.94.
7. वही, 3 2.95.
8. वही, 3.2.96.

ड—भ० का० में सप्तम्यन्त उपपद होने पर 'जन्' धातु से 'ड' (अ) प्रत्यय होता है ।[1] कृतजैः—भ० का० 6.134 सत्ययुगोत्पन्नैः; सरोजैः—भ० का० 2.5 ।

भ० का० में जातिवर्जित पचम्यन्त उपपद होने पर जन् से 'ड' प्रत्यय होता है ।[2] कौशल्याजः—भ० का० 6.134 हे कौशल्या जात ।

अनुपदाधिकार—भ० का० में निष्ठा संज्ञक क्त तथा क्तवतु प्रत्यय भूतकाल में होते हैं ।[3]

अकृतम्—भ० का० 6.137 अनाचरितम् कर्म; **कृतवान्**—भ० का० 6.137 अनुष्ठितवान् ।

ड्वनिप्—सु से तथा यज् से ड्वनिप् प्रत्यय होता है । भट्टि काव्य में केवल यज् धातु का उदाहरण मिलता है ।[4] यज्वभिः—भ०का० 6.137 ।

अतृन्—भ० का० में जॄ धातु से भूतकाल में अतृन् प्रत्यय होता है ।[5] जरद्भिः—भ० का० 6.137 वृद्धैः ।

क्वसु—सद्, वस् एवं 'श्रु' धातुओं से परवर्ती लिट् को भाषा में विकल्प से क्वसु आदेश होता है ।[6] यद्यपि भट्टिकाव्य में इसका प्रयोग अन्य प्रत्ययों की अपेक्षा बहुत कम पाया जाता है । फिर भी प्रत्येक धातु के उदाहरण उपलब्ध होते हैं । उपसेदुषाम्—भ० का० 6.138 उपसन्नानाम; ऊषुषाम्—भ० का० 6.138 उषितवताम्; शुश्रुवान्—भ० का० 1.22 श्रुतवान् ।

कानच्—उपेयिवस् तथा अनूचान शब्द भट्टि काव्य में भूत सामान्य में निपातित किए गए हैं ।[7] क्वसु—उपेयिवान्—भ० का० 6.139 संजग्मिवान्; कानच्—अनूचानेः—भ० का० 6.138 सांऽग वेदाऽध्यायिभिः ।

भूतार्थे तिङन्त—यहाँ भूतार्थ में कृदन्त के उदाहरण न देकर भट्टि सूत्र क्रम से तिङन्त के उदाहरण देते हैं ।

लुङ्—भ० का० में धातु से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय होता है ।[8]

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.97.
2. वही, 3.2.98.
3. वही, 3.2.102.
4. वही, 3.2.103.
5. वही, 3.2.104.
6. वही, 3.2.108.
7. वही, 3.2.109.
8. वही, 3.2.110.

अन्वनैषीत्—भ० का० 6.140 अनु+नी+लुङ् प्र० पु० ए० व० ।

भ० का० में अनद्यतन भूतकाल में धातु से लङ् प्रत्यय होता है ।[1]
न्यक्षिपत्—भ० का० 6.140 नि+क्षिप्+लुङ् प्र० पु० ए० व० ।

भ०का० में यत् सहित स्मृतिवाचक शब्द के उपपद होने पर विकल्प से धातु से लुट् प्रत्यय होता है, यदि लृडन्त का प्रयोग करने वाला साकांक्ष हो ।[2]

यत पास्यावै: मधूनि च—भ० का० 6.142 पा+लृट्, उ० प्र० द्वि० व० भ० का० में परोक्ष अनद्यतन अभिजानीहि भूतार्थ में वर्तमान धातु से लिट् प्रत्यय होता है ।[3] विदधे—भ० का० 6.143 दा+लिट् ।

चानश्—भ० का० में ताच्छील्य, वयोवचन तथा शक्ति अर्थ में धातु से चानश् प्रत्यय होता है ।[4] दीव्यमानम्—भ० का० 5.81; ताच्छील्य अर्थ में; अस्यमानम्—भ०का० 5.81 वयोवचन अर्थ में; निघ्नानम्—भ० का० 5.81 शक्ति अर्थ में ।

शतृ शानच्—भ० का० में अप्रथमान्त समानाधिकरण लट् को शतृ तथा शानच् आदेश हो जाते हैं ।[5] आपतत:—भ० का० III.48; यास्यन्—भ० का० I.33; आकर्णयन्—भ० का० II.87; उज्जिहान:—भ० का० III.47; वसान:—भ० का० 4.10; पूज्यमान:—भ०का० III.56 ।

मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार शत्रन्त रूपों के शक्तांग में अन्त प्रत्यय आता है जो अवाक्तांग में अत् रह जाता है । लेकिन पाणिनि[6] के अनुसार सामान्य प्रत्यय अत् है, परन्तु सर्वनाम स्थान विभक्तियों से पूर्व इसे न् (नुम्) का आगम होता है । बिभ्यत्—भ०का० 5.88; क्षुध्यन्त—भा० का० 5.66।

तृन्—भ० का० में ताच्छीलादि अर्थ में सब धातुओं से तृन् प्रत्यय होता है ।[7] कर्ता—भ० का० 7.1; पूरयितार:—भ० का० 7.1 ।

इष्णुच्—भ० का० में निरपूर्वक कृ, प्रजन्, रूच् इनसे तच्छीलादि कर्त्ता में इष्णुच् प्रत्यय भट्टि काव्य में पाया जाता है ।[8] प्रजनिष्णुनाम्—

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.111.
2. वही, 3.2.113.
3. वही, 3.2.114.
4. वही, 3.2.129.
5. वही, 3.2.124.
6. वही, 3.1.70.
7. वही, 3.2.135.
8. वही, 3.2.139.

भ० का० 7.2; रोचिष्णवः—भ०का० 7.2; निराकरिष्णवः—भ०का०7.3। इसके बाद दो वैदिक सूत्र छोड़ दिए गए हैं।

क्स्नु—भ० का० में ग्लै, जि, स्था इन धातुओं से तच्छीलादि कर्त्ता के वाच्य होने पर 'क्स्नु' प्रत्यय आता है।[1] ग्लास्नुः—भ० का० 7.4; स्थास्नुम्—भ० का० 2.32; जिष्णुः—भ० का० 7.4।

क्नु—भट्टि काव्य में त्रस् और धृष् से क्नु प्रत्यय पाया जाता है।[2] अधृष्णुवत्—भ० का० 6.4; त्रस्नुना—भ० का० 5.31।

घिनुण्—भ० का० में भ्रम् दिवादिगणीय धातु से घिनुण् प्रत्यय जाता है।[3] भ्रमी—भ० का० 7.5।

सम्पूर्वक पृच्, अनुपूर्वक रुध्, आङ् पूर्वक यम्, आङ् पूर्वक खश्, परिसृ—संसृज्, परिपूर्वक देवृ, संज्वर, परिक्षिप् परिरट्, परिवद्, परिदह, परिमुह, दुष, द्विष, द्रुह, दुह, यूज्, आङ् पूर्वक क्रीड् विविच्, त्यज्, रज्, भज्, अतिपूर्वक चर्, आङ् पूर्वक मुष् तथा अभि आङ् पूर्वक हन् से घिनुण् प्रत्यय होता है।[4] इनमें से भट्टि काव्य में, अनुपूर्वक रुध् संज्वर, परिपूर्वक देवृ, अभि आङ् पूर्वक हन्, परिपूर्वक सृ, परिरद्, तथा संसृज् के साथ घिनुण् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है।

संज्वारिणा—भ० का० 7.6; परिदेविनी—भ० का० 5.13; अभ्याघातिभिः—भ० का० 7.7।

वुञ्—भ० का० में निन्द्, हिंस, क्लिश् से तच्छीलादि कर्त्ता को कहने में वुञ् प्रत्यय आता है।[5] हिंसकाः—भ० का० 7.12; क्लेशकाः—भ० का० 7.13; निन्दकाः—भ० का० 7.13।

भ० का० में परि उपसर्ग पूर्वक दिव् से ण्यन्त रूप से वुञ् प्रत्यय होता है।[6] परिदेवकः—भ० का० 7.13।

युच्—भ० का० में चलना अर्थ वाला चेष्ट तथा शब्द करना अर्थ

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.139.
2. वही, 3.2.140.
3. वही, 3.2.141.
4. वही, 3.2.142.
5. वही, 3.2.146.
6. वही, 3.2.147.

वाली रु धातु युच् प्रत्यय होता है।[1] चेष्टनैः—भ०का० 7.14 व्यापार शीलैः; खणैः—भ० का० 7.14 शब्द न शीलैः। भ० का० में अनुदात्तेत् हलादि धातुओं से युच् प्रत्यय होता है।[2] उत्कण्ठावर्द्धनैः—भ० का० 7.14।

उकञ्—लष्, पत्, पद्, स्था, भू, वृष्, हन्, कम्, गम्, शृ—इनसे तच्छीलादि कर्त्ता में उकञ् प्रत्यय होता है।[3] भट्टि काव्य में वृष्, स्था, गम् धातु ही से उकञ् प्रत्यय पाया जाता है। वर्षुके—भ० का० 7.18; स्थायुकम् —भ० का० 2.22; गामुकः—भ० का० 8.126।

षाकन्—जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट्, वृङ्, से षाकन् प्रत्यय होता है। भट्टि काव्य में प्रथम धातु जल्प् का ही उदाहरण मिलता है।[4] जल्पाकीभिः —भ० का० 6.19।

इनि—भ० का० में प्र पूर्वक जु से इनि प्रत्यय होता है।[5] प्रजविना —भ० का० 7.19।

भट्टि काव्य में अभिपूर्वक अम् धातु से इनि प्रत्यय पाया जाता है।[6] अभ्यमी—भ० का० 7.20।

आलुच्—भ० का० में स्पृह, गृह, पत तथा दय्, निद्रा, तद् पूर्व द्रा, श्रत्पूर्वक धा से तच्छीलादि कर्त्ता को कहने के लिए आलुच् प्रत्यय आता है।[7] स्पृहयालुम्, निद्रालुम्, श्रद्धालुम्, अदयालुवत्—भ० का० 7.21।

रु—भ० का० में दा, धेट्, सि, शद्—से रु प्रत्यय होता है।[8] धारुम्—भ० का० 7.21; सद्रुम्—भ० का० 7.21।

क्मरच्—भ० का० में सृ, धस्, अद् से क्मरच् प्रत्यय होता है।[9] सृमरः—भ० का० 7.22; घस्मरः—भ० का० 2.38।

घुरच्—भ० का० में भञ्ज् से घुरच् प्रत्यय होता है।[10] भंगुरप्रज्ञः —भ० का० 7.22।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.148.
2. वही, 3.2.149.
3. वही, 3.2.154.
4. वही, 3.2.155.
5. वही, 3.2.156.
6. वही, 3.2.157.
7. वही, 3.2.158.
8. वही, 3.2.159.
9. वही, 3.2.160.
10. वही, 3.2.161.

कुरच्—विद् से कुरच् प्रत्यय होता है ।[1] विदुरः—भ०का० 7.22 ।

क्वरप्—भ० का० में जि धातु से क्वरप् प्रत्यय होता है ।[2] जित्वरः—भ० का० 7.22 ।

भ० का० में गम् से क्वरप् निपातन हुआ है ।[3] गत्वरान्—भ० का० 7.22 ।

ऊक्—भ० का० में 'जागृ' से ऊक् प्रत्यय होता है ।[4] जागरूकः—भ० का० 7.23 ।

भ० का० में दंश से भी 'ऊक्' प्रत्यय होता है ।[5] दन्दशूकरिपुंम्—भ० का० 7.23 ।

र—भ० का० में कम्प, कम, और हिंस शब्दों से धातुओं से 'र' प्रत्यय होते है ।[6] अकम्प्रम्—भ० का० 7.23 ।

नजिङ्—भ० का० में स्वप् और तृष् से नजिङ् प्रत्यय होता है ।[7] स्वप्नक्—भ० का० 7.25 ।

आरु—भ० का० में 'बन्द' धातु से आरु प्रत्यय होता है ।[8] वन्दारुभिः—भ० का० 7.25 ।

क्रु—भ० का० में भी धातु से तच्छीलादि कर्त्ता में क्रु प्रत्यय होता है ।[9] अभीरु—भ० का० 7.25 ।

वरच्—भ० का० में/ईश् धातु से वरच् प्रत्यय होता है ।[10] ईश्वरः—भ० का० 7.25 ।

भ० का० में यङन्त/या धातु से वरच् प्रत्यय होता है ।[11] यायावरा—भ० का० 2.20 ।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.2.162.
2. वही, 3.2.164.
3. वही ।
4. वही, 3.2.165.
5. वही, 3.2.166.
6. वही, 3.2.167.
7. वही, 3.2.172.
8. वही ।
9. वही, 3.2.174.
10. वही, 3.2.175.
11. वही, 3.2.176.

डॉ० नारंग "यायावरा" प्रयोग को उचित नहीं मानते। क्योंकि जब यङ् प्रत्यय गत्यर्थक धातुओं से जोड़ा जाता है तो कौटिल्य अर्थ में ही जुड़ता है पर यायावरा का अर्थ भट्टि काव्य में (एक जगह एक रात से ज्यादा न रहने वाले) अर्थ दिया है अतः यहाँ कुटिलता अर्थ में यङ् प्रत्यय नहीं हुआ। पर शरणदेव के अनुसार सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञान अर्थ भी व्यक्त करती हैं। अतः भट्टि काव्य में यायावरा शब्द भी अति विद्वान् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः प्रयोग ठीक है।[1]

क्विप्—भ०का० में भ्राज्, भास् और धुत् कर्म उपपद होते हुए क्विप् प्रत्यय होता है। विद्युत्नाशम्—भ० का० 7.26; भासम्—भ०का० 7.26। विभ्राजम्—भ० का० 7.26।

ष्ट्रन्—भ० का० में शस् धातु से करण कारक अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है।[2] शस्त्र—भ० का० 9.12।

भ० का० में पू धातु से करण कारक में ष्ट्रन् प्रत्यय होता है।[3] गिरिगुरुपोत्रम्—भ० का० 10.60।

इसके बाद भट्टि काव्य में निरधिकार कृत् प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। उणादि प्रत्यय सामान्यतः काल की दृष्टि से वर्तमान तथा भूतकाल में, प्रत्यय निष्पन्न शब्द से संज्ञा का बोध होने पर धातु से लगाए जाते हैं।[4] किन्तु उनका विधान इस सीमा से अन्यत्र भी मिलता है।[5] ये उपादान और सम्प्रदान से भिन्न कारकों में ही होते हैं।[6] इसलिए जहाँ अपादान में प्रत्यय विधान आवश्यक है, वहाँ उसके लिए अलग सूत्र से निर्देश किया गया है।[7] इससे पहले जिन प्रत्ययों का विधान किया गया उनसे बने शब्दों में यौगिक भाव अधिक है और अब आगे वर्णित प्रत्ययों

---

1. भट्टिकाव्य, ए स्टडी, दिल्ली, 1969, पृ० 100.
2. अष्टाध्यायी, 3.2.181.
3. वही, 3.2.183.
4. वही, 3 3.1-2.
5. वही, 3.3.1 पर काशिका—यतोविहितास्ततो अन्यत्रापि भवन्ति। केचिद् विहिता एव प्रयोगत उन्नेयाः।
6. अष्टाध्यायी, 3.4.75—ताभ्यान्मयत्रोपादयः।
7. वही, 3.4.74.

में रूढ़ अर्थ अधिक है। इसमें भविष्यत् कालिक प्रत्ययों का अन्वाख्यान किया गया है। भविष्यत् काल में होने वाले प्रत्यय लट्, लोट्, लिङ्, तुमुन, ण्वुल्, अण्, लृट्, लुट्, शतृ और शानच् हैं। ये प्रत्यय कर्तृवाच्य में होते हैं। ये लडादि प्रत्यय विशेषतः यहाँ भविष्यत् काल में प्रयुक्त हैं। इसके बाद तीनों कालों, तीनों वाच्यों और कर्त्ता और कर्तृ भिन्न कारकों में प्रत्ययों का विधान किया गया है। इनमें से घञ् प्रत्यय कर्तृकारक भाववाच्य में और कर्तृभिन्न कारकों में भी होता है।[1] यह अनुपसर्ग और सोपसर्ग दोनों प्रकार की धातुओं से लगाया जाता है।[2] प्रकृति, प्रत्यय, विषय तथा उपपद की दृष्टि से यह प्रत्यय भट्टि काव्य में अत्यधिक व्यापक प्रत्यय है। प्रत्यय छत्रादि प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द भाववाचक है और इनके निष्पादक प्रत्यय क्रियार्थक हैं। भावाधिकार के साथ-साथ कर्तृभिन्न कारक का अधिकार भी भट्टि काव्य के 7.32 में श्लोक से प्रारम्भ होता है।[3] करणादि कारकों में विहित होने वाले ल्युडादि प्रत्यय भी इस कृत् निरधिकार प्रकरण में बताए गए हैं। घञ् प्रत्यय के समान धर्मवाले तदपवाद अच्, अप्, प्रभृति प्रत्ययों का विधान घञ् प्रत्यय के बाद किया है। भावार्थक प्रत्यय सभी लिंगों और वचनों में निहित हैं।[4] फिर भी घञ् प्रत्यय निष्पन्न शब्द निश्चित रूप से पुल्लिग, भावार्थकल्युडन्त शब्द निश्चित रूप से नपुंसक लिंग और क्तिन् प्रत्ययान्त निश्चित रूप से स्त्रीलिंग होते हैं।[5] क्तिन् प्रत्यय घञ्, अच् और अप् का अपवाद है।[6] क्तिन् प्रत्यय के अतिरिक्त अ, अङ्, युच् प्रभृति अनेक भावार्थक प्रत्यय कर्तृभिन्न कारक में और स्त्रीलिंग में विहित है। जिनका अन्वाख्यान पाणिनि ने 3.3 98 सूत्र से लेकर 3.3.113 तक और भट्टि काव्य में 7.70 श्लोक से 7.77 श्लोक तक किया है।

संज्ञा विषय में वर्तमान कृ, वा, मि, स्वादि, शाधि, तथा अशू

---

1. इत उत्तरं त्रिष्वपि कालेषु प्रत्ययाः काशिका, 3.3.16 19.
2. अष्टाध्यायी, 3.3.20-25. 3. वही, 3.3.19.
4. पुल्लिंगैकवचनम् चात्र न तन्त्रम्। लिंगान्तरे वचनान्तरेऽपि चात्र प्रत्यया भवन्त्यैव पक्तिः, पक्वम् पचनम्। पाको, पाका इति।

—काशिका, 3.3.18.

5. सि० कौ० लिंगानुशासक, प्रकरण। 6. काशिका, 3.3.94.

धातुओं से उण् प्रत्यय होता है।[1] भ० का० में केवल दो ही प्रयोग मिलते हैं। कारुः—भ० का० 7.28; आशुः—भ० का० 7.28।

बीच के आठ सूत्र भट्टि काव्य में छोड़ दिए गए हैं।

तुमुन्—क्रियार्थ क्रिया उपपद होने पर धातु से भविष्यत् काल में तुमुन् तथा ण्वुल् प्रत्यय होते हैं।[2] तुमुन् प्रत्यय के इसी अर्थ में वैदिक भाषा में अनेक प्रत्यय मिलते हैं। इन अनेक प्रत्ययों के लिए वैदिक भाषा में "तुमर्थक" प्रत्यय "सामान्य संज्ञा का व्यवहार किया गया है। ऋग्वेद में ज्यादातर प्रयोग तुमर्थक प्रत्ययों के मिलते हैं। तुम् प्रत्यय के केवल पाँच प्रयोग मिलते हैं। उत्तरोत्तर ग्रन्थों में तुम् प्रत्यय का प्रयोग बढ़ता गया और अन्य तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग कम होता गया।[3] लौकिक संस्कृत में केवल तुम् प्रत्यय का प्रयोग ही मिलता है। इसी तरह भट्टि काव्य में भी तुम् प्रत्यय का प्रचुर प्रयोग ही उपलब्ध होता है। द्रष्टुम्—भ० का० 7.29; कारकाः—भ० का० 7.29।

घञ्—कर्तृ भिन्न कारक के वाच्य होने पर धातु से संज्ञा विषय में घञ् प्रत्यय होता है।[4] शीतस्पर्शाः—भ० का० 7.32 शीतलाडमार्शानाम्। सब धातुओं से घञ् होता है यदि घञन्त से परिमाण का बोध हो।[5] कपिसमाहारम्—भ० का० 7.34 वानरसमूहम्। भ० का० में इङ् अध्ययने से भावादि में घञ् होता है।[6] उपाध्याय—भ० का० 7.34। भ०का० में उपसर्ग उपपद होने पर "रु" धातु से घञ् प्रत्यय होता है।[7] संरावः—भ० का० 7.35। भ० का० में सम् उपपद होने पर "द्रु" धातु से घञ् होता है।[8]

---

1. कृवापाजिमिस्वदि साध्यशूभ्य उण्, 30. सू.।
2. अष्टाध्यायी, 3.3.10.
3. वैदिक व्याकरण, द्वितीय भाग, पृ० 775, अनु० 339.
4. अष्टाध्यायी, 3.3.18.
5. वही, 3.3.20.
6. वही, 3.3.21.
7. वही, 3.3. .
8. वही, 3.3.23.

चारुसन्द्रावम्—भ० का० 7.35.

भ० का० में उपसर्ग उपपद न होने पर "नी" से घञ् होता है।[1] नायेन—भ० का० 7.36.

भ० का० में वि उपसर्ग उपपद होने पर "क्षु" धातु से घञ् प्रत्यय होता है।[2] विक्षावैः—भ० का० 7.36.

णच्—भ० का० में कर्म व्यतिहार गम्यमान होने पर धातुमात्र से णच् प्रत्यय होता है।[3] जब स्त्रीलिंग वाच्य हो। व्यावहासीम्—भ० का० 7.42 परस्परहसन्।

इनुण्—भ० का० में अभिविधि गम्यमान होने पर धातुमात्र से भाव में इनुण् प्रत्यय होता है।[4] सांराविणम्—भ० का० 7.43 अभिव्याप्त्या भाषाणम्।

घञ्—भ० का० में नि पूर्वक ग्रह से आक्रोश गम्यमान होने पर घञ् प्रत्यय होता है।[5] निग्राहः—भ० का० 7.43.

प्र पूर्वक ग्रह् से लिप्सा की प्रतीति होने पर घञ्।[6] प्रग्राहैः—भ० का० 7.44 उपादानैः।

भ० का० में परिपूर्वक ग्रह से, यदि प्रत्ययान्त का प्रयोग यज्ञ-विषय में हो तो घञ् प्रत्यय होता है।[7] वेदिवत् सपरिग्राहा—भ० का० 7.45 यज्ञस्थलीव परिगृहीता।

भ० का० में नि पूर्वक वृङ् अथवा वृञ् से घञ् यदि प्रत्ययान्त धान्य का वाचक हो।[8]

निवारफलमूलाशान्—भ० का० 7.46 मुन्यन्नफलमूल भक्षकान्।

भ० का० में उद्पूर्वक श्रिञ्, यु, पु, द्रु, से घञ्।[9] निरुद्द्रावाः—भ० का० 7.46; उच्छ्रायवान्—भ० का० 7.47.

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.24.
2. वही, 3.3.25.
3. वही, 3.3.43.
4. वही, 3.3.44.
5. वही, 3.3.45.
6. वही, 3.3.46.
7. वही, 3.3.47.
8. वही, 3.3.48.
9. वही, 3.3.49.

भ० का० में आङ् पूर्वक रु तथा प्लु से घञ् विकल्प से होता है ।[1] घनाऽऽरावः—भ० का० 7.47; दूराऽऽप्लावम्—भ० का० 7.47.

अच्—भ० का० में इकारान्त धातु से भाव में तथा कर्तृ भिन्न कारक में अच् प्रत्यय आता है ।[2] प्रत्ययान्त से संज्ञा के गम्यमान होने पर । शिलोच्चयान्—भ० का० 7.55 पर्वतान् ।

अप्—भ० का० में ऋकारान्त तथा उकारान्त धातुओं से भाव में अप् होता है ।[3] अतरान्—भ० का० 7.55.

ग्रह्, वृङ् दृ, निस् पूर्वक वि, गम से भावादि में अप् होता है ।[4] भट्टिकाव्य में केवल आ पूर्वक दृ के साथ अप् प्रत्यय मिलता है । आदरेण—भ० का० 7.56 । उपसर्ग पूर्वक अद् से अप् प्रत्यय होता है ।[5] असंगसाः—भ० का० 7.56.

ण—भ० का० में नि पूर्वक अद् से "ण" प्रत्यय होता है और "अप्" भी ।[6] अन्यादान्—भ० का० 7.56.

अप्—भ० का० में व्यध् तथा जप् से भाव आदि में अप् होता है, जब उपसर्ग न हो ।[7] सव्यधान्—भ० का० 7.56 । स्वन् हस् से विकल्प से अप्, जब उपसर्ग न हो ।[8] सहसाः, अस्वना—भ० का० 7.57.

सम्, उप, नि, वि—इन उपसर्गों के उपपद होने पर और उपसर्गाभाव में भी यम् धातु से विकल्प से अप् आता है, पक्ष में आत्सर्गिक घञ् भी ।[9] भ० का० में केवल सम उपसर्ग पूर्वक ही रूप मिलता है ।

संयामवन्तः—भ० का० 7.57.

"नि" उपपद होने पर गद्, नद्, पठ्, स्वन् से विकल्प से अप् प्रत्यय होता है ।[10] भ० का० में गद् धातु से ही अप् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है । निगदान्—भ० का० 7.57.

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.50.
2. वही, 3.3.56.
3. वही, 3.3.57.
4. वही, 3.3.58.
5. वही, 3.3.59.
6. वही, 3.3.60.
7. वही, 3.3.61.
8. वही, 3.3.62.
9. वही, 3.3 63.
10. वही, 3.3.64.

भ० का० में निपूर्वक क्वण् से विकल्प से अप् होता है, तथा उप-सर्गाभाव में भी ।[1] अनि:क्वाण:—भ० का० 7.58.

क्त्रि—भ० का० में "डु" इत्संज्ञक धातु से भाव—आदि में "क्ति' प्रत्यय होता है ।[2] लब्धिमैः—भ० का० 7.65.

अथुच्—भ० का० में "टु" इत्संज्ञक धातु से भव-आदि में अथुच् प्रत्यय होता है ।[3] भ्राजथुमतीम्—भ०का० 7.65

नङ्—यज्, याच्, यत्, विश्न, प्रश्न, रक्ष् से भाव आदि में नङ् प्रत्यय होता है ।[4] भट्टिकाव्य में अन्तिम धातु रक्ष का ही नङ् प्रत्ययान्त प्रयोग उपलब्ध होता है । रक्ष्णम्—भ० का० 7.66.

नन्—भ० का० में स्वप् से भाव में नन् प्रत्यय होता है ।[5] स्वप्ने—
—भ० का० 7.66.

कि:—भ० का० में उपसर्ग उपपद होने पर घु—संज्ञक धातुओं से भाव आदि में "कि:" प्रत्यय होता है ।[6] विधिवत्—भ० का० 7.66.

भ० का० में कर्म उपपद होने पर धु—संज्ञक धातुओं से अधिकरण कारक में "कि:" प्रत्यय होता है ।[7] जलधिगम्भीरान्—भ०का० 7.67 ।

क्त्र्यधिकारोक्त कृत् प्रत्यय

क्तिन्—भट्टिकाव्य में 7.67 श्लोक से 7.77 तक स्त्रीलिंग कृत् प्रत्ययों का वर्णन किया गया है । भाव तथा कर्तृ भिन्न कारक में धातु से स्त्रीलिंग में क्तिन् प्रत्यय होता है ।[8] सृष्टि:—भ० का० 7.67.

भ० का० में स्था, गै, पा, पच् धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है ।[9] स्थितिम्—भ० का० 7.68.

क्यप्—भ०का० में व्रज्, यज् से भाव में क्यप् होता है ।[10] व्रज्यावती भ० का० 7.70; इज्या—भ० का० 2.37.

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.65.
2. वही, 3.3.88.
3. वही, 3.3.89.
4. वही, 3.3.90
5. वही, 3.3.91.
6. वही, 3.3.92.
7. वही, 3.3.93.
8. वही, 3.3.94.
9. वही, 3.3.95.
10. वही, 3.3.96.

सम् पूर्वक अज्, निपूर्वक सद् निपूर्वक पत्, मन्, विद्, षुञ्, शीङ् भृञ्, इण्—इनसे प्रत्ययान्त संज्ञा होने पर भाव में क्यप् होता है।[1] भ० का० में विद् से क्यप् का उदाहरण ही मिलता है। विद्या—भ० का० 7.70 विद्+क्यप्।

श, क्यप्, क्तिन्—कृ से, श, क्यप्, क्तिन् भावादि में होते हैं।[2] भट्टि काव्य में "श" प्रत्यय का उदाहरण मिलता है। क्रियान्—भ० का० 7.70।

भ० का० में "इच्छा" यह श प्रत्ययान्त निपातन किया है।[3] इच्छात: भ० का० 7.70।

अ—भ० का० में सनादि प्रत्ययान्त से अ प्रत्यय होता है।[4] चङ्क्रमावत्—भ० का० 7.70। लोलुयावान्—भ० का० 4.31.

भ० का० में हलन्त धातु जो गुरुमान् हो उससे भी अ होता है।[5] शिक्षण—भ० का० 7.71.

भ० का० में अति, जूति, यूति, साति, हेति, तथा "कीर्ति" शब्दों का निपातन है।[6] जूतिम् कीर्तिम्, यूतीन्—भ० का० 7.69.

अङ्—षित् तथा भिद् आदि धातुओं से भाव आदि में अङ् प्रत्यय होता है।[7]

भ० का० में त्रपा तथा व्यथ धातु के उदाहरण मिलते हैं। त्रपावन्त:—भ० का० 7.71; व्यथाम्—भ० का० 7.71.

युच्—भ० का० में ण्यन्त धातु से, आस् तथा श्रन्थ से युच् होता है।[8] प्रायोपसनया—भ० का० 7.73.

ण्वुल्—भ० का० में यदि प्रत्ययान्त रोग का नाम हो तो बहुलतया धातु से ण्वुल् होता है।[9] प्रस्कन्दिकाम्—भ० का० 7.74. रोग विशेषम्।

भ० का० में संज्ञा विषय में धातु से ण्वुल् प्रत्यय होता है।[10] शालभंजिकाप्रख्यान्—भ० का० 7.74. क्रीडाविशेषदृशान्।

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.99
2. वही. 3.3.100
3. वही, 3.3.101.
4. वही, 3.3. 102.
5. वही. 3.3.103.
6. वही, 3 3.97.
7. वही, 3.3.104.
8. वही, 3.3.107.
9. वही, 3.3.108.
10. वही, 3.3.109.

इण्—प्रश्न और उत्तर के गम्यमान् होने पर धात्वर्थ निर्देश में धातु से इञ्, ण्वुल् होता है ।[1] भट्टि काव्य में इण् प्रत्यय का उदाहरण दिया गया है । कारिम्—भ० का० 7.75.

ण्वुच्—पर्याय, अर्हण, ऋण, उत्पत्ति इन अर्थों के द्योत्य होने से ण्वुच् होता है ।[2] भ० का० में पर्याय अर्थ में ण्वुच् हुआ है । प्रायोपवेशिकाम्—भ० का० 7.76 अनशन कुर्व् क्रम संप्राप्ता आक्रोश गम्यमान होने पर धातु से "अनि" होता है जब नञ् उपपद हो ।[3] अजीवनि:—भ० का० 7.77. अजीवनम् भवतु ।

कृट्—कृत्य संज्ञक प्रत्यय तथा ल्युट् प्रत्यय उक्त अर्थ से भिन्न अर्थों में भी होते हैं ।[4] यहाँ सूत्र में बहुल ग्रहण से । "कृत्यल्युटो बहुलम्" सूत्र से भट्टिकाव्य में निम्न शब्द सिद्ध किया गया है । क्लेदान्तत्वम्—भ० का० 7.78.

इसमें अर्श आदिभ्योऽच् "से अच् प्रत्यय हुआ है तथा" अक्लेश्य-प्रयतन शब्दों भाव-साधनी से भाव में सिद्ध करने के लिए "कृत्यल्युटो बहुलम्" से यहाँ उचित माना गया है । भ० का० में भाव अर्थ में धातु से क्त प्रत्यय होता है और वह क्लान्त शब्द नपुंसक लिंग हो जाता है ।[5] मन्दगतः—भ० का० 7.79.

भ० का० में नपुंसक लिंग भाव में ल्युट् प्रत्यय भी होता है ।[6] अशोभन:—भ० का० 7.79.

भ० का० में करण तथा अधिकरण कारक में धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है ।[7] देह व्रश्चनतुण्डाग्रम्—भ० का० 7.80.

घ—पुल्लिग करण तथा अधिकरण को कहने के लिए प्रायः "घ" प्रत्यय होता है यदि समुदाय से संज्ञा का बोध होता है । ।[8] अनुभाऽऽकरम्—भ० का० 7.80 अकल्याणोत्पत्तिस्थानम् ।

खल्—कृच्छ्र और अकृच्छ्र अर्थ वाले दुस्, ईषत्, सु उपपद होने पर

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.110.
2. वही, 3.3.111.
3. वही, 3.3.112.
4. वही, 3.3.113.
5. वही, 3.3.114.
6. वही, 3.3.115.
7. वही, 3.3.117.
8. वही, 3.3 118.

धातु से खलु प्रत्यय आता है ।[1] दुर्लभम्—भ० का० 7.83. कृच्छ्रलभ्यन् ।

भ० का० में च्यवर्थक कर्त्ता तथा कर्म के उपपद होने पर क्रमशः भू तथा "कृञ्" धातुओं से खल् प्रत्यय होता है ।[2] ईषदाढ्यंकरः—भ० का० 7.84. च्यवर्थे कर्मोपपदात् खल् अनाढ्यैः ईषदाढ्योऽपि ।

युच्—भ० का० में ईषद् आदि उपपद होने पर खलर्थ में आकारान्त धातुओं से युच् होता है ।[3] दुरुपस्थाने— भ० का० 7.85 दुःखेन उपस्थातुम् शक्ये, किं पुनः शरीरेण ।

इसके बाद भट्टिकाव्य में यद्यपि पाणिनि के क्रमानुसार कृत् प्रत्ययों के प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं तथापि यत्र-तत्र ये प्रयोग मिलते हैं । पाणिनि के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद तक के कृत् प्रत्ययों का वर्णन भट्टि काव्य में क्रम से दिया गया है । चतुर्थ पाद के कुछ कृत् प्रत्यय अन्यत्र मिलते हैं । इस पाद के निर्दिष्ट प्रत्ययान्त शब्दों में से क्त्वा प्रत्यान्त भट्टि काव्य में निरुपपद और सोपपद उभयविध धातुओं से होता है । णमुल् प्रत्यय प्रायः सोमपद धातुओं से होता है । खमुञ् प्रत्यय केवल "कृ" धातु के कर्म उपपद रहने पर आक्रोश गम्यमान होने पर होता है । सामान्यतः क्त प्रत्यय का विधान भाव और कर्म में किया गया है । किन्तु गत्यर्थक, अकर्मक, श्लिष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन, रुह और जीर्य धातुओं से यह कर्त्ता में भी होता है । तथा अकर्मक, प्रत्यवसानार्थक और गम्यर्थक धातुओं से क्रमशः कर्तृभावाधिकरण, कर्तृकर्म भावाधिकरण और कर्म भावाधिकरण में यह प्रत्यय होता है ।

क्त्वा—जब दो धातुवाच्य क्रियाओं का एक ही कर्त्ता हो तब पूर्वकाल में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है ।[4] पवित्वा—भ० का० 3.18.

भ० का० में "वस् आच्छादने" धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर—वसित्वा —भ० का० 3.45.

भ० का० में "वस् निवासे" धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर—उषित्वा— भ० का० 3.60.

---

1. अष्टाध्यायी, 3.3.126.
2. वही, 3.3.127.
3. वही, 3.3.128.
4. वही, 3.4.21.

भ० का० में णमुल् प्रत्यय के अर्थ में धातु से क्त्वा प्रत्यय—क्रान्त्वा क्रान्त्वा—भ० का० 5.51.

ल्यप्—भ० का० में क्त्वा प्रत्यय के ही अर्थ में धातु से पूर्व उपसर्ग होने पर ल्यप् प्रत्यय होता है। प्रतीय—भ० का० 3.19; विषह्य—भ० का० 9.73; प्रतीय—भ० का० 3.19.

णमुल्—भ० का० में आभीक्ष्ण्य अर्थ में वर्तमान समानकर्तृक धातुओं में पूर्व क्रिया वाचक धातु से णमुल् प्रत्यय भी होता है और क्त्वा प्रत्यय भी।[1] व्याधम् व्याधम्—भ० का० 5.3; स्थायम् स्थायम्—भ० का० 5.51.

समूल, अकृत, जीव—इन कर्मवाची उपपदों के होने पर क्रम से हन्, कृ, ग्रह् से णमुल् होता है।[2] भ० का० में समूल + हन का ही प्रयोग उपलब्ध है। समुलघातम्—भ० का० 1.2 समूलक।

कर्तृवाची जीव तथा पुरुष शब्दों के उपपद होने पर क्रमशः "नश" तथा "वह" धातुओं से णमुल् होता है।[3] विधुत्प्रणाशम्—भ० का० 3.14.

खमुञ्—भ० का० में कर्मवाची पद के उपपद होने पर कृ से खमुञ् प्रत्यय आता है जब आक्रोश गम्यमान हो।[4] भीतंकारम्—भ० का० 5.39.

क्त—भ० का० में ध्रौव्यार्थक, गत्यर्थक, तथा भक्षणार्थक धातुओं से विहित क्त प्रत्यय अधिकरण में एवं भाव और कर्म में भी होता है।[5] स्थितम्, प्रक्रान्तम्।

ध्रौव्यार्थक—स्थितम्—भ० का० 8.125; शयितम्—भ० का० 8.125; गत्यर्थक—प्रक्रान्तम्—भ०का० 8.125; द्रुतम्—भ० का० 10.11; भक्षणार्थक—भुक्तम्—भ० का० 8.125; श्रुतान्वितः—भ० का० 1.1.

इन कृत् प्रत्ययों का वर्णन करने के अतिरिक्त भट्टि काव्य में ङित्, कित् इट् प्रतिषेध तथा इट् आदि का विधान भी कृत् प्रत्ययों में पाणिनि क्रम से किया गया है।

ङित्—भ० का० में "ओविजी भयचलनयोः" इस धातु से पर विहित इट् आदि प्रत्यय ङित् होते हैं।[6] द्विजितुम्—भ० का० 7.92.

---

1. अष्टाध्यायी, 3.4.22.
2. वही, 3.4.36.
3. वही, 3.4.43.
4. वही, 3.4.25.
5. वही, 3.4.76.
6. वही, 1.2.2.

भ० का० में "उर्णुम् आच्छादने" धातु से परे विहित इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् होते हैं ।[1] प्रोर्ण वितुम्—भ० का० 8.93.

कित्—भ० का० में मृङ्, मृद्, गुध, कुश्, क्लिश, वद, वस्—इन धातुओं में ये विहित क्त्वा प्रत्यय कित् होता है ।[2] अमृडित्वा, क्लिशित्वा, उदित्वा—भ० का० 7.96.

भ० का० में रुद, विद, मुष, ग्रहि, स्वपि, प्रच्छ—इन धातुओं से विहित क्त्वा प्रत्यय तथा सन्—प्रत्यय कित् होते हैं ।[3] मुषित्वा रुदित्वा—भ० का० 7.97; विदित्वा—भ० का० 8 98.

भ० का० में इडागम विशिष्ट क्त्वा प्रत्यय कित् नहीं होता ।[4] वर्तित्वा—भ० का० 7.103.

इट् प्रतिषेध—भ० का० में वशादि कृत् प्रत्यय के परे इट् का आगम नहीं होता ।[5] ईश्वरा:—भ० का० IX.12 ।

कृत् संज्ञक 'त' से परे भट्टिकाव्य में इडागम नहीं हुआ है ।[6] क्षितौ—भ० का० 9.13; शस्त्रहस्ता:—भ० का० 9.12 ।

भ० का० में उपदेशावस्था में एकाच् तथा अनुदात्तेत् धातु से परे इडागम नहीं होता है ।[7] चेतव्यान्—भ० का० 9.13 ।

भ० का० में कित् प्रत्यय से परे 'श्रि' तथा उगन्त धातुओं को इटागम नहीं होता है ।[8] युतान्, श्रित्वा—भ० का० 9.13 ।

भ० का० में निष्ठा प्रत्यय के परे 'श्वि' तथा ईदित् धातुओं को इडागम नहीं होता ।[9] उद्विग्नान्—भ० का० 9.16 ।

भ० का० में जिस धातु को विकल्प से इडागम होता है उसको निष्ठा प्रत्यय परे रहते नहीं होता ।[10] उदवृत्तनयन:—भ० का० 9.16

---

1. अष्टाध्यायी, 1.2.3.
2. वही, 1.2.7.
3. वही, 1.2.8.
4. वही, 1.2.18.
5. वही, 7.2.8.
6. वही, 7.2.9.
7. वही, 7.2.10.
8. वही, 7.2.11.
9. वही, 7.2.14.
10. वही, 7.2.15.

इडागम—भ० का० में वलादि आर्धधातुक को इडागम हो जाता है।[1] लवितुम्—भ० का० IX.23।

भ० का० में 'वृ' तथा 'वृङ्' और ऋकारान्त धातुओं से उत्तरवर्ती इट् को विकल्प से दीर्घादेश हो जाता है।[2] अवरीतुम्—भ० का० IX.24।

भ० का० में स्वृ एवं उदित धातु से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम हो जाता है।[3] स्वरिता—भ० का० IX.27; सोता—भ० का० IX.28; गाहिता—भ० का० IX.29।

भ० का० में रध् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम हो जाता है।[4] रधितुम्—भ० का० IX.29।

———————

1. अष्टाध्यायी, 7.2.35.
2. वही, 7.2.38.
3. वही, 7.2.44.
4. वही, 7.2.46.

अध्याय आठ

तद्धित प्रत्यय

भट्टिकाव्य में तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग बाहुल्य से पाया जाता है। लगभग 100 से अधिक प्रत्ययों के उदाहरण विभिन्न अर्थों में दृष्टिगोचर होते हैं। इन प्रत्ययों का प्रयोग वैदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत कम मिलता है, पर लौकिक संस्कृत में यह प्रयोग उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता गया है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में इस तथ्य को स्वीकार किया है "प्रिय तद्धिता दाक्षिणात्याः"। पाश्चात्य विद्वान् इन प्रत्ययों के लिए नाम गौण प्रत्यय देते हैं। तद्धित प्रत्यय 'तेभ्य प्रयोगेभ्यः हिताः' इस निर्वचन के अनुसार भट्टिकाव्य में सुबन्त पद संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और अव्ययों से तथा स्वार्थिक प्रत्यय होने पर केवल प्रातिपदिक से जोड़े जाते हैं। कुछ समासों के साथ भी इनका प्रयोग भट्टिकाव्य में मिलता है। प्रायः सभी प्रत्ययों का प्रयोग पाणिनि नियमों के अनुसार किया गया है फिर भी तीन या चार स्थानों पर विभिन्न विद्वानों की शब्द निष्पत्ति के विषय में वैचारिक-भिन्नता यथास्थान दर्शायी गई है। भट्टि काव्य के तद्धितान्त शब्दों का अन्वाख्यान इस अध्याय में पाणिनि-क्रम से किया गया है। भट्टि काव्य में विभिन्न अर्थों में बार बार प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय इस प्रकार हैं—

अण्, अञ्, ख, यञ्, अञ्, षुक्, ईञ्, ण्य, नञ्, स्नञ्, ढक्, इनङ्, घ, ज्यङ्, ष्यत्, त्यप्, एण्य, टयु, टयुल्, यत्, छ, मयट्, ईकक्, यत्, वति, त्व, तल, इमनिच्, ष्यञ्, ख, खञ्, जाहच्, य, वुञ्, चुंचुप, शंकटच्, त्यकन्, इतच्, द्वयसच्, डट्, क्तुप्, तयप्, वुन्, अबुक्, कन्, वति, इनि, वलच्, लच्, विनि, तसिल, ह, थाल, थमु, अस्ताति, अन्, कन्, यत्, वुन्, ष्वुन्, छ, कृत्वसुच्, सुच्, तमप्, इष्ठन्, ईयसुन्, कल्पम्, पाशम्, अकच्, र, डुपच्, धा, मयट, यत्, स्न, शस्, साति, डाच्, आकिनी, ज्य, छ, अञ्, यञ्, ठक्, तल्, क, डच्, अच्, टच्, षच्, ष्, अप्, असिच्, अनिच्, इ, कप्, त्रल, दा, हिल्, एनप् आदि अतसुच्।

इनमें से कुछ प्रत्यय ऐसे हैं जिनका विधान सुबन्त प्रकृति से अथ विशेष में किया गया है। ये प्रत्यय अपना कुछ अर्थ रखते हैं, जिसे प्रकृति से अन्वित करने पर ये परार्थाभिधानत्व को चरितार्थ करते हैं। ऐसे प्रत्ययों को इस अध्याय में 'अस्वार्थिक प्रत्ययों' की संज्ञा दी गई है। जिन अर्थों का ज्ञान अपत्यार्थक, समूहार्थक आदि प्रत्ययों से नहीं होता वे तद्धित-अर्थ पाणिनि व्याकरण में 'शेष' 4.2.92 शब्द से बतलाए गए हैं। अतः इन अर्थों के लिए 'शैषिक प्रत्यय' नाम दिया गया है। कुछ प्रत्ययों का अस्वार्थिक प्रत्ययों की भांति स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता वे केवल प्रकृत्यर्थ का द्योतन मात्र करते हैं ऐसे प्रत्ययों के लिए 'स्वार्थिक' संज्ञा का प्रयोग किया है।

अस्वार्थिक प्रत्यय—पाणिनीय अष्टाध्यायी में तद्धित प्रत्ययों का अन्वाख्यान करते हुए सबसे पहले अपत्याधिकार दिया गया है। अपत्याधिकार के अन्तर्गत एक ही अर्थ में अनेक प्रत्ययों का विधान प्रकृति भेद से किया गया है। इसके अन्तर्गत गोत्रार्थक प्रत्यय, अपत्यार्थक प्रत्यय तथा अन्य कई अर्थों में विहित प्रत्यय मिलते हैं। भट्टि काव्य में अपत्याधिकार के अन्तर्गत अनेक प्रत्यय पाये जाते हैं। संभवतः सर्वाधिक विस्तृत वर्णन भट्टि काव्य में इन्हीं प्रत्ययों का किया गया है। इसमें प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय अण्, अञ्, ख, यञ्, षुक, ईञ्, ण्य, नञ्, स्वञ्, ढक, इनङ् घ, ज्यङ् और व्यत् है। अपत्यार्थक वर्ग में ऐसे प्रत्यय दिये गए हैं जिनको संज्ञाओं में जोड़ने से किसी पुरुष या स्त्री की सन्तान का बोध होता है।

अण्—भ० का० में 'तस्थाऽपत्यम्' अर्थ में।

काकुत्स्थः—भ० का० 2.11 ककुत्स्थः+अण्—तस्याऽपत्यं; पुमान् राघव्—भ० का० 2.28 रघोरपत्यम् पुमान्+अण्; कार्तवीर्यः—भ० का० 5 33 कृतवीर्यस्य अपत्यम् पुमान्+अण्।

भ० का० में संख्या परे रहते मातृ शब्द से 'उसका' अपत्य इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।[1] त्रैमातुरः—भ० का० 1.25 तिसृणां मातृणामपत्यं पुमान्+अण्।

अण्—भ० का० में जनपद समान जो क्षत्रिय का नाम हो उससे अपत्य अर्थ में प्रत्यय होता है।[2] मैथिलः—भ० का० 2.340 मिथिला+अञ्।

---

1. अष्टाध्यायी, 4.1.11. 2. वही, 4.1.168.

भ० का० में मनु शब्द से 'तस्यापत्यम्' इस अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं साथ ही 'षुक्' का आगम होता है यदि प्रकृति प्रत्यय समुदाय से जाति का बोध हो तो ।[1]

मानुषान्—भ० का० 4.22 मानवान् ।

खञ्—भ० का० में महाकुल शब्द से विकल्प से अपत्यार्थ में अञ् और खञ् प्रत्यय होते हैं ।[2] महाकुलीनस्य—भ० का० 7.80 ।

इञ्—अदन्त शब्द से 'तस्यापत्य' अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है ।[3]

दशरथे—भ० का० II.24 दशरसस्य अपत्य पुमान्+इञ्; प्राभंजनि—भ० का० IX.67 प्रभंजन+इञ्; मैथिली—भ० का० II.47 मैथिल+ईञ् ।

बाहु आदि शब्दों से 'तस्यापत्यम्' अर्थ में 'इञ्' प्रत्यय होता है ।[4] सौमित्रि—भ० का० III.47 सुमित्रा+इञ्

ण्य—भ० का० में दिति, अदिति तथा आदित्य से तथा 'पति' उत्तरपद वाले शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अपत्यादि अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होता है ।[5] आदित्य—भ० का० 7.52 अदिति+ण्य ।

नञ्, स्नञ्—भ०का० में स्त्री और पुम्स शब्दों से 'स्त्रीभ्यो हितम्' और अर्थों में नञ् स्नञ् प्रत्यय भट्टि काव्य में पाये जाते हैं ।[6] स्त्रैणं—भ० का० 5.91 स्त्री रहीत स्त्रीभ्यो हितो वा+नञ्; पौंस्नि—भ० का० 591 पुमांसमर्हति पुंसे हिता+स्नञ्+ङीप् ।

ढक्—भ० का० में स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों में तस्यापत्यं अर्थों में ढक् प्रत्यय होता है ।[7] दौर्भागिनेयौ—भ० का० 4.35 दुर्भगयोरपत्ये पुमांसौ+ढक्+इनङ्+वृद्धि; सौभागिनेयस्य—भ० का० 4.35 सुभगाया: अपत्यं पुमान्+ढक्+इनङ्+वृद्धि; कानिष्ठिनेयस्य—भ० का० 5.84 कनिष्ठाया: अपत्यं पुमान्+ढक्+इनङ्+वृद्धि; 'दुष्कुल' शब्द से अपत्यार्थ में विकल्प से ढक् प्रत्यय होता है ।[8] दौष्कुलेयेन—भ० का० 8.88 दुष्कुलस्य अपत्यं पुमान्+ढक् ।

---

1. अष्टाध्यायी, 4.1.161.
2. वही, 4.1.141.
3. वही, 4.1.95.
4. वही, 4.1.96.
5. वही, 4.1.85.
6. वही, 4 1.87.
7. वही, 4.1.20.
8. वही, 4.1.142.

इनङ्—भ० का० में कल्याणी आदि शब्दों को इनङ् आदेश भी होता है।[1] दौर्भागिनयौ—भ० का० 4.35; सौभागिनेयस्य—भ० का० 4.35; कानिष्ठिनेयस्य—भ० का० 5.84।

घ—भ० का० में क्षत्र 'शब्द से अपत्यार्थ में 'घ' प्रत्यय होता है।[2]

क्षत्रियकाऽन्तिके—भ० का० 5.42 क्षत्रस्यापत्यं पुमान्—क्षत्र+घ।

ञ्यङ्—भ० का० में वृद्ध शब्द से इकारान्त से 'कोसल' से तथा 'अजाद' से अपत्यार्थ में 'ञ्यङ्' प्रत्यय होता है।[3] जब ये जनपद-समान शब्द क्षत्रिय वाची हों। कोसल शब्द से ञ्यङ् प्रत्यय; कौसल्या—भ० का० I.14 कोसलस्य राज्ञो ऽपत्यं+ञ्यङ्+चाप्।

व्यत्—भ० का० में अपत्यार्थ में भ्रातृ शब्द से व्यत् और छः प्रत्यय होते हैं।[4] भ्रातृव्यं—भ० का० 15-120 भ्रातुरपत्यं पुमान्+व्यत्।

यञ्—भ० का० में गर्गादि शब्दों से गोत्रापत्य में यञ् होता है।[5] जामदग्न्य—भ० का० 11.50 जमदग्नेः अपत्यं पुमान्+यञ्।

रक्तार्थक प्रत्यय—अपत्यार्थक प्रत्ययों के बाद पाणिनि ने रक्ताद्यर्थक प्रत्ययों का अन्वाख्यान किया है। भट्टि काव्य में इनका प्रयोग 'अपत्यार्थक' प्रत्ययों की अपेक्षा बहुत कम है इसके केवल यत्, अण्, घ, वुञ्, तल, ठक् और ढक् प्रत्ययों के ही उदाहरण विभिन्न अर्थों में मिलते हैं।

यत्—भ० का० में शूल एवं उखा से संस्कृत होने पर संस्कृत वस्तु भक्ष्य द्रव्य हो तो यत् प्रत्यय होता है।[6]

शूल्यम्—भ० का० 4.9 शूले संस्कृतम्=शूल+यत्, शूल संस्कृतं मांसम्; उख्यम्—भ० का० 4.9 उखायाम् संस्कृत मांसम्=उखा+यत्।

अण्—भ० का० में प्रथमान्त देवता-विशेष वाची पद से 'यह

1. अष्टाध्यायी, 4.1.126.
2. वही, 4.1.138.
3. वही, 4.1.172.
4. वही, 4.1.144.
5. वही, 4.1.105.
6. वही, 4.2.17.

इसका देवता है' इस अर्थ में यथा—त्रिहित अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।[1] सौर्य—भ० का० 15.92 सूर्य देवता अस्य-सूर्य+आण् ।

ढक्—भ० का० में सौर्याग्नेये 15.92 में, आग्नेये में देवतार्थक प्रथमान्त अग्नि शब्द से षष्ठ्यर्थ में ढक् प्रत्यय हुआ है ।[2] सूर्य+अण्, अग्नि+ढक् ।

घ—भ० का० में प्रथमान्त महेन्द्र शब्द से षष्ठार्थ में घ प्रत्यय हुआ है ।[3] महेन्द्रियं—भ० का० 5.11 महेन्द्र+घ ।

वुज्—भ० का० में गोत्र प्रत्ययान्त राजन्, राजन्य, से समूह अर्थ में वुज् प्रत्यय हुआ है ।[4] राजन्यक:—भ० का० II.49 राजन्यानाम् समूहः राजन+वुज्; राजक:—भ० का० II.52 राज्ञां समूहः—वुज् । वृद्ध शब्द से भाव अर्थ में वुज् प्रत्यय हुआ है ।[5]

वार्द्धक:—भ० का० XII.55 वृद्धस्य भावो वर्द्धकम्+वुज् ।

तल्—भ० का० में जन और बन्धु शब्द से समूह अर्थ में भ० का० में तल प्रत्यय हुआ है ।[6]

जनता—भ० का० III.11 जनाणम् समूहः+तल् बन्धुता—भ० का० III. 23 बन्धुनाम् समूह+तल्

वक्—भ० का० में अचेतन पदार्थवाची प्रातिपदिक से, हस्तिन् शब्द से समूह अर्थ में वक् प्रत्यय हुआ है । हास्तिकं—भ० का० II 49 हस्तिनाम् समूहः+वक् ।

शैषिक प्रत्यय—जिन अर्थों का ज्ञान अपत्यार्थक, समूहार्थक आदि प्रत्ययों से नहीं होता, वे तद्धित अर्थ पाणिनि व्याकरण में शेष शब्द से बतलाए गए हैं 'शेष' तद्धित अर्थों के लिए अण् आदि प्रत्यय लगाए जाते हैं । भट्टि काव्य में शैषिक प्रत्यय त्यप्, एण्य, टयु, टयुल्, यत्, छ, मयट्, ईकक्, यत्, वति, त्व, तल, इमनिच्, ष्यज्, ख, खञ्, जाहच्, य, वुज्, चुंचुप्, चणप्, शंकटच्, त्यकन्, इतच्, द्वयसच्, इट्, वतुप्, त्यप्, वुन्, अनुक, कन् आदि पाये जाते हैं ।

1. अष्टाध्यायी, 4.2.24.
2. वही, 4.2.33.
3. वही, 4.2.29.
4. वही, 4.2.39.
5. वही, 5 2.133.
6. वही, 4.2.43.

त्यप्—क्व शब्द और तसि प्रत्ययान्त कुतः शब्द से त्यप् प्रत्यय भट्टि काव्य में पाया जाता है।[1] क्वत्या—भ० का० 9.127 क्व+त्यप् (त्य); कुतस्त्यं—भ० का० 4.39 कुतः+त्यप् (त्य)।

एण्य—भट्टि काव्य में तत्र भव अर्थ में प्रवृष से एण्य प्रत्यय होता है।[2]

प्रावृषेण्यै—भ० का० II.30 प्राकृषि भवाः प्रवृषेज्पास्तैः+एण्य।

ट्यु—भ० का० में सौर्य शब्द और अव्यय दिवं और नवतम् से ट्यु प्रत्यय पाया जाता है।[3] सायन्तनीम्—भ० का० 5.65; दिवातनीम्—भ० का० 5.65; नक्तन्तनम्—भ० का० 6.13; दिवातनम्—भ० का० 6.13।

यत्—भ० का० में सप्तम्यन्त से 'साधु' 'प्रवीण' योग्या अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।[4] उदारवंश्या—भ० का० I.13 उदारश्चाऽसौ वंशः तस्मिन् साध्व्यः+यत्।

छ—भ० का० में सप्तम्यन्त अंगुलीय शब्द से भावार्थ में 'छ' प्रत्यय होता है।[5] अंगुलीयकम्—भ० का० 7.49 अंगुलीभवम्+छः।

मयट्—प्रकृतिमात्र से विकार, अवयव अर्थ में मयट् (मय) विकल्प से होता है।[6]

हेमरत्नमय—भ० का० 5.48 हेम्नो रत्नानां च विकारः+मयट्।

ईकक्—भ० का० में 'शक्ति' तथा 'यष्टि' से ईकक् प्रत्यय होता है।[7] शाक्तिक—भ० का० 4.40; याष्टीक—भ० का० 5.24।

यत्—भ० का० में धर्म शब्द से 'अनयेत' अर्थ में यत् प्रत्यय लगता है।[8] धर्म्यासु—भ० का०।

वति—भ० का० में तृतीया समर्थ से 'तुल्य' इस अर्थ में वति प्रत्यय

---

1. अष्टाध्यायी, 4.2.102.
2. वही, 4.3.17.
3. वही, 4.3.23.
4. वही, 4.4.98.
5. वही, 4.3.62.
6. वही 4.3.143.
7. वही, 4.4.59.
8. वही, 4.4.92.

लगता है।[1] उन्मदिष्णुवत्—भ० का० 7.4 उन्मदिष्णुना तुल्यम्+वति; भावुवत्—भ० का० 6.32 भानुना तुल्यम्+वति।

भ० का० में षष्ठी समर्थ से इवार्थ में वति प्रत्यय लगता है।[2] कृतकृत्यवत्—भ० का० 6.33 कृतकृत्यस्य इव+वति।

त्व—भ० का० में प्रातिपदिक मात्र से भाव में त्व प्रत्यय होता है।[3] द्विजत्वं—भ० का० I.21 द्विजस्य भावः+त्व; लघुत्वं—भ० का० III.31 लघोः भावः+त्व।

तल्—भ० का० में यह प्रत्यय भी प्रातिपदिक से भाव में पाया जाता है। प्रियम्भावुकताम्—भ० का० 4.13 प्रियम्भावुकस्य भावः+ताल (ता); क्षपाटतां—भ० का० 5.64 क्षपाटस्य भावः+तल (ता)।

इमनिज्—पृथु, लघु, महत्, कृष्ण आदि शब्दों से भट्टिकाव्य में भाव में इमनिज् प्रत्यय पाया जाता है।[4] प्रथिमान्—भ० का० I.17 पृथोः भावः+इमनिज् (इमन्); महिमा—भ० का० III. 62 महत्+इमनिज्; लघिम्ना—भ० का० III.7 लघु+इमनिज्; कृष्ठिमानं—भ० का० 5.88 कृष्ण+इमनिज्।

ष्यञ्—भ० का० में चातुर्वण्य 'त्रिलोकी' शब्द में ष्यञ् स्वार्थ में लगता है।[5] त्रैलोक्येन—भ० का० 5.21 त्रिलाकी+ष्यञ्।

भ० का० में गुणवाचक धैर्य आदि से ष्यञ् प्रत्यय भाव में लगता है।[6] धैर्यं—भ० का० 6.18।

य—भ० का० में सख्यु शब्द से भाव में 'य' प्रत्यय लगता है।[7] सख्यस्य—भ० का० 6.72।

वुञ्—भ० का० में योपध शब्दों से जिनके अन्त्य अक्षर से पूर्व गुरु हो 'वुञ्' प्रत्यय लगता है।[8] रामणीयकम्—भ०का० 6.76।

---

1. अष्टाध्यायी, 5.1.115.
2. वही, 5.1.116.
3. वही, 5.1.119.
4. वही, 5.1.122.
5. वही, 5.1.124. पर वार्तिक चातुर्वण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्याम्।
6. वही, 5.1.124.
7. वही, 5.1.126.
8. वही, 5.1.132.

ख—भ० का० में अनुकाम शब्द द्वितीया समर्थ प्रातिपादिक से 'गामी' अर्थ में ख प्रत्यय होता है।[1] अनुकामीनतां—भ० का० 5.15 यथेच्छगामितां+ख।

भ० का० में द्वितीयान्त पर और पुत्र, पौत्र शब्दों से 'अनुभवति' अर्थ में ख प्रत्यय होता है।[2] परम्परीणां—भ० का० 5.15 परांश्च, परतरांश्च अनुभवति+ख; पुत्रपौत्रीणतां—भ० का 5.15 पुत्रपौत्राऽनुभवित।

खञ्—भ० का० में 'हैयंगवीन' यह खञ् प्रत्ययान्त निपातन किया या है।[3] हैयंगवीनं—भ० का० 5.12।

जाहच्—भ० का० में कर्ण शब्द से उसका मूल 'अर्थ' में जाहच् प्रत्यय होता है।[4] कर्णजाहविलोचना—भ०का० 4.16 कर्णयोर्मूले कर्णजाहे +जाहच्।

चुंचुप्-चणप्—भ० का० में तृतीया समर्थ से प्रसिद्ध अर्थ में चुंचप् तथा चणप्' प्रत्यय होते हैं।[5] असचुंचु—भ०का० II.32 शस्त्र प्रसिद्धः; मायाचणं—भ० का० II.32 प्रख्यात मायाविनम्।

शंकटच् —क्रिया विशिष्ट साधनवाची वि उपसर्ग से स्वार्थ में 'शंकटच्' प्रत्यय भट्टि काव्य में पाया जाता है। विशंकटः—भ० का० II.50 विशालः।

त्यकन्—भ० का० में आसन्न और आरूढ अर्थ में वर्तमान अधि और उप् उपसर्गों से त्यकन् प्रत्यय लगता है[6]। समुद्रोपत्यका, पर्वताऽधित्यका —भ० का० 5.89; सागराऽऽसन्ना त्रिकूटपर्वतोपरिस्थिता।

इतच्—भ० का० में प्रथमा समर्थ तारका आदियों से 'अस्य' अर्थ में 'इतच्' प्रत्यय होता है जब तारकादियों का 'संजात' विशेषण हो।[7] रण पण्डिताः —भ० का० 8.42 युद्ध कुशान+इतच् सदसद्विवेकवती बुद्धि पण्डा, सा संजाता एषां ते पण्डिताः।

द्वयसच्—भ० का० में प्रथमा समर्थ से 'अस्य' इस अर्थ में द्वयसच् प्रत्यय हुआ है।[8] सम्पन्नतालद्वयसः—भ० का० II.50 सम्पन्नतालः प्रमाणमस्य+दृशसच्।

1. अष्टाध्यायी, 4.2.10.
2. वही, 5.2.7.
3. वही, 5.2.22.
4. वही, 5.2.24.
5. वही, 5.2.26.
6. वही, 5.2.34.
7. वही, 5.2.36.
8. वही, 5.2.37.

इट्—भ० का० में संख्यावाची षष्ठ यन्त प्रातिपदिक से 'पूरण:' अर्थ में इट् प्रत्यय होता है ।[1] अष्टमे—भ० का० 17.68 अष्टानाम् पूरणे +इट् ।

वतुप्—भ० का० में प्रथमान्त 'तद्' से 'इसका' इस अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है। प्रथमान्त का परिमाण उपाधि होने पर ।[2] तावद्भि:—भ० का० 7 52 तत् परिमाणमेषां ते+वतुप् ।

तयप्—अवयव अर्थ में वर्तमान संख्यावाची प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'इसका' इस अर्थ में 'तयप्' प्रत्यय होता है ।[3] सन्ध्यात्रयम्—भ० का० 8.13 त्रयो अवयवा सख्य तत् त्रयं+तयम् ।

वुन्—भ० का० में सप्तमी समर्थ पथिन् शब्द से 'कुशल' अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है ।[4] पथिकान्--भ० का० II.43 ।

भट्टि काव्य में 2 43 श्लोक की टीका में कहा गया है कि जयमंगल और मल्लिनाथ ने "पथिकान" में "तत्र कुशल: पथ:" 5.3.63 सूत्र से ठक् प्रत्यय माना है। पर यह उचित नही है। क्योंकि इससे पहले "गोषदादिभ्यो वुन्" 5.2.62 सूत्र से इस सूत्र में "वुन्" प्रत्यय की अनुवृत्ति आती है और वुन् होने पर "पथक" रूप बनेगा। इससे "पन्थानं गच्छतीति" विग्रह करने पर "पथ: ष्कनं" 5.17 इससे ष्कन् होकर पथिक: रूप बनता है ।

अनुक्—अनुक् शब्द भट्टि काव्य में "चाहने वाला" अर्थ में कन्प्रत्ययान्त निपातित किया गया है ।[5] अनुका—भ० का० 4.19 कामुकी ।

कन्—भ० का० में प्रथम समर्थ से "इसका" इस अर्थ में कन् प्रत्यय किया गया है ।[6] मत्कम्—भ० का० III.32 अहं ग्रामणीरस्य+कन्; त्वत्का: —भ० का० IX.129 त्वं ग्रामणीरेषां ते+कन् । पंचमी समर्थ "तन्त्र" से अचिरापहृतम् अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ।[7] तन्त्रकनिभे—भ० का० 4.10 तन्त्रत् अचिराऽपहृत:+कन् ।

मत्वर्थीय प्रत्यय—जब किसी व्यक्ति के पास या अधिकार में किसी वस्तु का होना प्रकट किया जाता है, तब उस वस्तु वाचक शब्द के साथ मतुप् आदि प्रत्यय जोड़े जाते हैं ।[8] भट्टि काव्य में बहुत्व, निन्दा, प्रशंसा

---

1. अष्टाध्यायी, 5.2.48.
2. वही, 5.2.39.
3. वही, 5.2.42.
4. वही, 5 2.62.
5. वही, 5 2.74.
6. वही, 5.2.78.
7. वही, 5.2.70.
8. वही, 5.2.94.

तथा संसर्ग अर्थों में नित्ययोग और अतिशायन अर्थों में इन प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है, इसके लिए भट्टि काव्य में वति, इनि, वलच् ललच्, विनि प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। बहुत्व अर्थ में—अभ्युपायवान् भ० का० 6.114; प्रशंसा अर्थ में—वीरवती—भ० का० II.38, धीमान्—भ० का० III.52; नित्ययोग अर्थ में—अक्षमालावान्—भ० का० 5.61.

संसर्ग—निन्दा अर्थ में—हनूमन्तं—भ० का० 6.97. युक्त अर्थ में अन्य उदाहरण—विस्मयवन्ति+II.5; अरविन्दव्यतिषंगवान्—भ० का० II.10; तडित्वन्त:—भ० का० 7.3; कुण्डपाय्यवतां—भ० का० 6.68.

वति—भट्टि काव्य में—यतिवत्—भ० का० 7.57 तुल्य अर्थ में उदन्तान्—भ० का० 8.6.

इनि—भट्टि काव्य में—पद्मिनी, मानिनी—भ० का० II.6; पतत्त्रिण:—भ० का० 7.59.

वलच्—भट्टि काव्य में—कृषि शब्द से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय होता है।[1] कृषीवला:—भ० का० 7.48।

लच्—भ० का० में—सिध्मादि "गण पठित प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय विकल्प से होता है।[2] पर्णलीभूतसानू—भ० का० 6.146 पर्णानि सन्ति येषां ते।

विनि—भ० का० में—तपस् शब्द से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है।[3] तपस्विनां—भ० का० 5.77.

स्वार्थिक प्रत्यय—स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृत्यर्थ के द्योतक मात्र होते हैं, वाचक नहीं, वे अज्ञात प्रकृत्यर्थ का द्योतन करते हैं। इनका वर्णन अष्टाध्यायी में पाँचवें अध्याय के तीसरे और चौथे पद में किया गया है। भट्टि काव्य में विभिन्न अर्थों में मिलते हैं। भट्टि काव्य में स्वार्थिक प्रत्यय तसिल्, ह, थाल, थमु, अस्ताति, अन्, कन्, यत्, वुन, ष्वुन्, छ, कृत्वसुच्, सुच्, तसप्, इष्ठन्, तरप्, ईयसुन्, कल्पप् पाशप्, अकच्, र, डुपच्, धा, मयट्, यत्, स्व, शस्, साति, डाच् ण, ड, आकिनी, ज्य्, ध, अण्, अज्, यञ्, ठक्, तल्, क, तसिल्, डच्, अच्, टच्, षच्, ष अप्, असिच्, अनिच्, इ, कप्, त्रल्, दा, हिल, एनप् आहि, अतसुच्, प्रत्ययपाये जाते हैं।

तसिल्—भ० का० में पंचम्यन्त किम्, सर्वनाम, से तसिल् प्रत्यय होता है।[4] कुत:—भ० का० X.58; तत:—भ० का० II.29; यत्—भ० का० 6.26; सर्वत्—भ० का० X.66.

---

1. अष्टाध्यायी, 5.2.112.
2. वही, 5.2.97.
3. वही, 5.2.102.
4. वही, 5.3.7.

त्रल्—भ० का० में सप्तम्यन्त किम्, सर्वनाम, बहु से त्रल् प्रत्यय होता है।[1] तत्र—भ० का० II.25; परत्र—भ० का० 7.84; एकत्र—भ० का० II.21.

ह—भ० का० में सप्तम्यन्त "इदम्" "ह" प्रत्यय लगता है।[2] इह—भ० का० 6.12.

दा—भ० का० में सप्तम्यन्त सर्व, एक, अन्य, किम्, यद्, तद् से कालवाची होसे पर दा प्रत्यय लगता है।[3] यदा—भ० का० II.53; तदा —भ० का० II.53; सर्वदा—भ० का० III.13; कदा—भ० का० 7.12; सदा—भ० का० 7.88.

हिल्—भ० का० में सप्तम्यन्त सर्वनाम से विकल्प से "हिल्" प्रत्यय लगता है।[4]

थाल—भ० का० में प्रकारार्थक "तद्" शब्द से थाल् प्रत्यय होता है।[5] तथा—भ० का० II.39.

थमु—भ० का० में प्रकारार्थक "इदम्" से थमु प्रत्यय लगता है।[6] इत्थम्—भ० का० 1.23.

अस्ताति—भ० का० में दिशा अर्थ में रूढ़ दिशा और देश अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त, पंचम्यन्त तथा प्रथमान्त पूर्व आदि से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय लगता है।[7] पुरस्तात्—भ० का० I.22 सामने; उदक्—भ० का० 7.51. उत्तर; प्रत्यक्—भ० का० 14.16. पूर्व।

धा—भ० का० में प्रकार अर्थ में वर्तमान संख्यावाची शब्दों से स्वार्थ में 'धा" प्रत्यय।[8] शतधा—भ० का० 5.25.

भ० का० में "बहु" शब्द से "धा" प्रत्यय विकल्प से आता है, क्रिया की आवृत्तियों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होने पर।[9] ददृशे बहुधा भ्रमन्—भ० का० IX.62.

---

1. अष्टाध्यायी 5.3.10.
2. वही, 5.3.11.
3. वही, 5.3.15.
4. वही, 5.3.21.
5. वही, 5.3.23.
6. वही, 5.3.24.
7. वही, 5.3.27, 5.3.40.
8. वही, 5.3.42.
9. वही, 5.4.20.

भट्टि काव्य में "बहुधा" में प्रकार अर्थ में "संख्याया विधार्थे धा" 5.3.42 सूत्र से धा प्रत्यय किया गया है।

कृत्वसुच्—भ० का० में क्रिया की आवृत्ति की गिनती में वर्तमान संख्यावाची शब्दों से स्वार्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है।[1] शतकृत्वः—भ० का० 8.122.

सुच्—भ० का० में द्वि, चतुर् शब्दों से क्रिया की आवृत्ति की गिनती में सुच् प्रत्यय होता है।[2] द्विष्कुर्वतां—भ० का० IX.63; चतुष्कुर्वन्—भ० का० IX 63.

शस्—भ० का० में बहु और अनेक से स्वार्थ में शस् प्रत्यय होता है।[3] बहुशः—भ० का० X.4.; अनेकशः—भ०का० 15.90.

तसि—भ० का० में उपादान में जो पंचमी उससे तसि प्रत्यय होता है, जबकि उसका "हा" और "रुह" के साथ सम्बन्ध न हो।[4] नभस्तः—भ० का० III.24.

च्वि—भ० का० में कृ, भू, अस् धातु निष्पन्न रूप के योग में विकार को प्राप्त हुई प्रकृति में वर्तमान विकार वाचक शब्द से परे विकल्प से च्वि प्रत्यय होता है।[5] ऊरीकृतम्—भ० का० 8.11; रहीभूतं—भ० का० 8.55; नवीभूतरसः—भ० का० X.6; श्रेणी भूतानि—भ० का० 5.80; सुमनी भवन्ति—भ० का० II.54.

साति—भ० का० में कृ, भू, अस् के योग में "सम्पत्ति" के कर्त्ता से विकल्प से साति प्रत्यय होता है।[6] सम्पूर्णता का अर्थ द्योतित होने पर। कृशानुसाद्भूते—भ० का० 4.7 कात्स्न्येंन अग्नीभूते; सर्पसाच्—भ० का० 14.45 कात्स्न्येंन सर्पभूत; भस्मसात्—भ० का० 14.58 कात्स्न्येंन भस्मीभूता।

डाच्—भ० का० में अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण डाच् प्रत्यय होता है।[7] शक्वाकायद्भिः—भ० का० 8.65. शकीवद्भिः।

आकिनिच्—भ० का० में असहाय वाची एक शब्द से स्वार्थ में आकिनिच् प्रत्यय होता है।[8] एकाकिनी—भ० का० 5.66.

---

1. अष्टाध्यायी, 5.4.17.
2. वही, 5.4.18.
3. वही, 5.4.42.
4. वही, 5.4.54.
5. वही, 5.4.50.
6. वही, 5.4.52.
7. वही, 5.4.57.
8. वही, 5.3.52.

कल्पप्—भ० का० में ईषदसमाप्ति अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से कल्पप् प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं।[1] शतमन्युकल्पः—भ० का० I.5 ईषदसमाप्तः शतमन्यु; गिरिकल्पम्—भ० का० 6.41 ईषद्समाप्ताः गिरवः; तमस्कल्पान्—भ० का० IX. 59 ईषदसमाप्तानि तमांसि।

पाशप्—भ० का० में कुत्सित अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में 'पाशप्' प्रत्यय होता है।[2] रक्षस्पाशान्—भ० का० IX. 52 कुत्सितानि रक्षांसि; धनुष्पाशभृतः—भ० का० IX.60 कुत्सितं धनुः।

तमप्, इष्ठन्—भ० का० में अतिशय विशिष्ट अर्थ वाले सुबन्त से स्वार्थ में तमप् तथा इष्ठन् प्रत्यय होते हैं।[3] दो में से एक का अतिशय द्योतन करने के लिए तरप् तथा ईयसुन् प्रत्यय लगते हैं। बहुतों में से एक अतिशय बताने के लिए तमप् और इष्ठन् प्रत्यय लगते हैं। ईयस् और इष्ट प्रत्यय प्रायः लौकिक संस्कृत में विशेषणों के साथ जोड़े जाते हैं। परन्तु वैदिक भाषा में कुछ ऋकारान्त प्रातिपदिक के साथ भी इनका प्रयोग मिलता है।[4] यथा—कर्तृ + इष्ठ—करिष्ठ (ऋ.)

वृद्धतमः—भ० का० II.44; सुहृतम्—भ० का० XII.37; वरिष्ठः—भ०का० I.15; बंहिष्ठः—भ०का० II.45; गरिष्ठम्—भ०का०II.45.

तरप्, ईयसुन्—भ० का० में द्वित्व के वाचक शब्द के उपपद होने पर तथा विभज्य, विभक्तव्य अर्थ के उपपद होने पर अतिशय विशिष्ट स्वार्थवाची शब्द से तथा भेद—प्रयोजक—धर्मवाचक शब्द से तरप् तथा ईयसुन् स्वार्थिक प्रत्यय होते हैं।[5] प्रातस्तराम्—भ० का० 4.14; पुष्यतितराम्—भ० का० 4.29; कनीयान्—भ० का० III.51; प्रेयसी—भ०का० XXII.28।

अकच्—भ० का० में अव्ययों तथा सर्वनामों से प्रागिवीय अर्थों में अकच् प्रत्यय होता है।[6] असकौ—भ० 5.15।

मयट्—भ० का० में प्रकृतोपाधिक अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त प्राति-

---

1. अष्टाध्यायी, 5.3.67.
2. वही, 5.47.
3. वही, 5.3.55.
4. वही, 5.3.58, 5.3.59.
5. वही, 5.3.57.
6. वही, 5.3.71.

पदिक से स्वार्थ में मयट् प्रत्यय होता है।[1] मायामयान्—भ० का० 17.107 मायामय स्वाभावान्।

यत्—भ० का० में अर्थ शब्द से तादर्थ्य में यत् प्रत्यय हुआ है।[2] अर्घ्यम्—भ० का० 6.71।

ञ्य्—भ० का० में चतुर्थी समर्थ अतिथि शब्द से तादर्थ्य में ञ्य् प्रत्यय होता है।[3] आतिथ्य—भ० का० II.26।

तल्—भ० का० में देव शब्द से स्वार्थ में 'तल्' होता है।[4] अधि देवता—भ० का० II.47।

डच्—भ० का० में 'निस्त्रिंश' आदि शब्दों की सिद्धि के लिए तत्पुरुष समासावयव संख्यावाचक उत्तमपद से भी डच् प्रत्यय का प्रतिपादन होता है।[5] निस्त्रिंशाभ्याम्—भ० का० 4.46।

टच्—भ० का० में अव्ययी भाव समास में शरत् आदि शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय होता है।[6] अनुदिशम्—भ० का० X.8।

चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त तथा हकारान्त द्वन्द्व से समासान्त टच् प्रत्यय होता है यदि वह समाहार विहित हो।[7] वाक्त्वचेन—भ० का० 4.16।

षच्—भ० का० में स्वांगवाचक सक्थिशब्दान्त तथा स्वांगवाचक अक्षिशब्दान्त ब्रीहि से समासान्त षच् प्रत्यय होता है। कषायाऽक्षः—भ० का० 5.83; धौताऽक्षः—भ० का० 14.50।

षं—भ० का० में द्विमूर्धन् तथा त्रिमूर्धन्—बहुव्रीवि से समासान्त 'ष प्रत्यय होता है।[8] द्विमूर्धनि, त्रिमूर्धान्—भ० का० 4.41।

असि०—भ० का० में दुस् शब्द परवर्ती मेधस् शब्द से बहुव्रीहि से नित्य समासान्त असिच् प्रत्यय होता है।[9] दुर्मेधसः—भ० का० XX.34।

---

1. अष्टाध्यायी, 5.4.21.
2. वही, 5.4.25.
3. वही, 5.4.26
4. वही, 5.4.27।
5. अष्टाध्यायी, 5.4.73 पर वार्तिक "डच् प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यं निस्त्रिंशाधर्थम्।"
6. अष्टाध्यायी, 5.4.107.
7. वही, 5.4.106.
8. वही, 5.4.115.
9. वही, 5 4.122.

अनिच्

कप्—भ० का० में उरः आदि अन्त्यावयव शब्दों से बहुव्रीहि समास होने पर 'कप्' प्रत्यय होता है ।[1] भिन्ननौकः—भ० का० 5.88 ।

भ० का० में नदी संज्ञकान्त बहुव्रीहि से स्वार्थ में 'कप्' प्रत्यय होता है ।[2] अस्त्रीकः—भ० का० 4.29 । भ० का० में जिस बहुव्रीहि से किसी भी समासान्त प्रत्यय का विधान नहीं किया गया है उससे स्वार्थ में विकल्प से कप् प्रत्यय होता है ।[3] आपीतमधुका—भ० का० 5.70 ।

एनप्—भ० का० में सप्तम्यन्त दक्षिण शब्द से अस्तात्यर्थ में एनप् प्रत्यय होता है अवधिमान पदार्थ दूरवर्ती न होने पर ।[4] दण्डकान् दक्षिणेनाऽहं—भ० का० 8.108 ।

आहि—भ० का० में अस्तात्यर्थ में सप्तम्यन्त 'उत्तर' शब्द से आहि प्रत्यय होता है ।[5] अवधि मान पदार्थ के दूरवर्ती होने पर ।[6] उत्तराहि वसन् रामः समुद्राद् रक्षसां पुरम् । भ० का० 8.107 ।

अतसुच्—भ० का० में दिक् अर्थ में वर्तमान दक्षिणा शब्द से 'अतसुच्' प्रत्यय होता है ।[7] दक्षिणतः—भ० का० 8.107 ।

———

1. अष्टाध्यायी 5.4.51.
2. वही, 5.4.153.
3. वही, 5.4.154.
4. वही, 5.3.35.
5. वही, 5.3.38.
6. वही, 5.3.39.
7. वही, 5.3.28.

अध्याय नवाँ

वाक्य रचना

भाषा की महत्त्वपूर्ण इकाई वाक्य है। यह अपने अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिए शब्दों को यथास्थान रखने की विधि है। विभिन्न भाषाओं में वाक्य रचना भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। मुख्यतया वाक्य रचना में पदों के परस्पर समन्वय, कारक और क्रम इन तीन बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है। विभक्ति प्रधान भाषा होने के कारण संस्कृत में शब्दों के क्रम का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसमें पदों का सम्बन्ध शब्द से संयुक्त विभक्ति से निर्धारित होता है, चाहे क्रम कुछ भी हो। गद्यात्मक संस्कृत रचनाओं मे सामान्य रूप से शब्दों का क्रम कर्त्ता, कर्त्ता के विशेषण, कर्म, कर्म के विशेषण, फिर क्रिया विशेषण, अन्य अव्यय और अन्त में क्रिया शब्द के रूप में होता है। पर भट्टिकाव्य पद्यमयी रचना है इसलिए इसमें शब्दों के क्रम का सही विश्लेषण करना संभव नहीं है। भट्टिकाव्य में कारक का पाणिनि क्रम से विस्तृत वर्णन किया गया है। वाक्य रचना में अव्यय शब्दों, सर्वनाम, तुलनार्थक और अतिशय बोधक प्रत्ययों, कृत्यप्रत्ययान्त क्रिया शब्दों, तिङन्त शब्दों, उपसर्ग, संयोजक, अथ, इति और विस्मय सूचक अव्ययों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका वर्णन इस अध्याय में कारक वर्णन के बाद किया गया है।

भट्टिकाव्य में पदों का परस्पर समन्वय

भट्टिकाव्य में पदों का पारस्परिक सम्बन्ध लौकिक संस्कृत में पाये जाने वाले नियमों के समान ही पाया जाता है। भट्टि काव्य में कर्त्ता के वचन और पुरुष के अनुसार ही क्रिया का वचन और पुरुष होता है। सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशान्—भ० का० 1.2।

जब दो या दो से अधिक कर्त्ताओं का च शब्द के द्वारा सम्बन्ध हो तथा वे भिन्न-भिन्न वचनों के हों तो उनकी संख्या के अनुसार वचन लगता है।

अन्योन्यं स्म व्यतियुक्तः शब्दान् शब्दैस्तु भीषणान् ।
उदन्वांश्चानिलोदधूतो म्रियमाणा च राक्षसी ।। भ० का० 8.6.

जब विधेय में रूप में **क्त** या क्तवतु प्रत्ययान्त का प्रयोग होता है तो **क्त** प्रत्ययान्त के लिंग और वचन कर्म के अनुसार तथा क्तवतु प्रत्ययान्त के लिंग और वचन कर्त्ता के अनुसार होते हैं । क्त—अद्य सीता मया दृष्टा भ० का० 8.100 ।

क्तवतु—

प्रत्यूचे बालिनं रामो नाकृऽतं कृतवानहम् ।
यज्वभिः सुत्वभिः पूर्वैः जरद्‌भिश्च कपीश्वरः ।। भ० का० 6 137

विशेषण या संज्ञा शब्द का विधेय के रूप में प्रयोग होने पर भट्टि-काव्य में उसके साथ अस या भू धातु का रूप कहीं-कहीं अनुमित रहता है ।

परिपर्युदधे रूपमा द्युलोकाच्च दुर्लभम् ।
भावत्कं दृष्टवत्स्वेतदस्मास्वपि सुजीवितम् ।। भ० का० 5 69

विशेषण में लिंग, विभक्ति और वचन वही होता है, जो विशेष्य में होता है ।

सदरत्न मुक्ता फल वज्र भांजि विचित्र धातूनि सकाननानि ।
स्त्रीभिर्युतान्यप्सरसामिवौधैर्मेरोः शिरांसीव गृहाणि यस्याम् ।
भ० का० 1.7

लेकिन जिन संख्या वाचक शब्दों के लिंग और वचन निश्चित हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता ।

सन्त्याजयांचकाराऽथ सीतां विंशतिबाहुना । भ० का० 5.104

तत् शब्द में वही लिंग, वचन और पुरुष होता है, जो यत् शब्द में होता है । इनमें कारक वाक्य में इनकी स्थिति के अनुसार होता है ।

न तज्जलं यन्न सुचारु पंकजं न पंकजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुंज यः कलं न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः ।
भ० का० 2.19

कारक

वाक्य में आये संज्ञा शब्दों का क्रिया के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे कारक कहते हैं और उसको प्रकट करने के लिए जो विभक्ति लगाई जाती हैं उन्हें कारक विभक्ति कहते हैं। वैयाकरणों के द्वारा संज्ञा शब्दों का क्रिया के साथ सम्बन्ध दिखाने वाले 6 कारक माने गए हैं। कर्त्ता, कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। सम्बनेधन और सम्बन्ध को कारक नहीं माना जाता, क्योंकि इनका क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। इन कारक विभक्तियों का प्रयोग जनसामान्य में प्रचलित प्रयोगों के आधार पर हो सके इसलिए पाणिनि ने स्वय नियम देते हुए भी इनका प्रयोग कर्त्ता की विवक्षा पर छोड़ दिया है। अन्य भाषाओं में अलग-अलग कारकों की संख्या पाई जाती है। फिन्निश भाषा में 14, तोखारियन भाषा में एक वचन में 8 कारकों का तथा बहुवचन में 9 कारकों का प्रयोग मिलता है। कई अन्य भारोपीय शाखाओं में कम होकर 2 ही कारक रह गये हैं, अन्य को आपस में मिला दिया गया है। ग्रीक और लैटिन में केवल एक ही कारक कई अन्य कारकों का काम करता है। ग्रीक भाषा में सम्प्रदान का कारक ही करण, सम्प्रदान, अधिकरण को सूचित करता है और सम्बन्ध का कारक सम्बन्ध और अपादान को भी बताता है। लैटिन भाषा में केवल अपादान ही अपना, करण और अधिकरण का अर्थ प्रकट करता है।[1] भारतीय मूल भाषाओं में भी कारकों को मिला लेने की प्रवृत्ति पाई जाती है। पाली और प्राकृत भाषाओं में सम्प्रदान और सम्बन्ध कारक को प्रायः मिला दिया गया है। संस्कृत भाषा में कारकों का प्रयोग विस्तार से किया गया है। इस विस्तार के कारण ही मैक्समूलर यह सोचने के लिए विवश हुआ कि संस्कृत भाषा में कारकों का प्रयोग कठिन है।[2]

भट्टि काव्य में कारक प्रयोग पाणिनि के नियमों के अनुसार किया गया है। केवल कुछ स्थानों पर ही अनियमितताएँ पाई जाती हैं जिनका वर्णन यथास्थान किया गया है।

---

1. Cf. Taraporewala, Skt. Syntax. p. 26 ff.
2. The use of the tenses and modes is comparatively simple; on the other hand, the use of the cases, being much less definite than in Latin and Greek presents some difficulties.
   —Max Muller as quoted by M. Williams Grammar for Beginners.

भट्टि काव्य में कारक प्रकरण का वर्णन 8.70 से 8.130 तक के श्लोकों में किया गया है। ज्यादातर इसमें एक सूत्र का एक ही उदाहरण दिया गया है, पर कभी 2 या 3 उदाहरण भी दिए गए हैं। 2.3.33, 1.4.89, 1.4.96 (1 सूत्र 2.3.29) के छः और अष्टाध्यायी सूत्र 2 3.69 के 7 उदाहरण में मिलते हैं। अतः इस विषय में डॉ० नारंग[1] की टिप्पणी कि सभी कारक सूत्रों के एक-एक ही उदाहरण दिए गए हैं। उचित प्रतीत नहीं होता। इसी तरह एक विशेष सूत्र "अकथितं च" का संकेत देते हुए कहा गया है कि जिन सूत्रों की वार्तिकों से व्याख्या की आवश्यकता थी भट्टि काव्य में पूर्ण रूप से वर्णन नहीं किया गया है।[2] किसी सीमा तक यह ठीक है कि उसी स्थान पर सूत्र की व्याख्या वार्तिकों के द्वारा नहीं की गई है, पर अन्यत्र वार्तिकों के भी उदाहरण मिलते हैं। "अकथितं च।" 1.4.51 सूत्र के विषय में कहा गया है कि इसकी व्याख्या "दुह्याच्पच्दण्ड" वार्तिक से हो सकती थी लेकिन भट्टि काव्य में इस सूत्र का केवल एक उदाहरण दिया है और सभी उदाहरणों को छोड़ दिया है। ऐसा नहीं है, अपितु भट्टि काव्य में विशेष रूप से इस सूत्र की व्याख्या "दुह्याच्पच्दण्ड—" वार्तिक से छठें सर्ग के 8 से 10 वें श्लोक में की है। जिसमें इस वार्तिक के 8 उदाहरण दिए गए हैं। वहाँ केवल उन्हीं द्विकर्मक धातुओं के उदाहरण नहीं दिये जिनका वार्तिक में निर्देश है बल्कि उनसे अर्थ साम्य रखने वाली अन्य धातुओं के भी उदाहरण हैं। पाणिनि के सूत्रों के क्रम से उदाहरण देते हुए भट्टि काव्य में वार्तिक और वैदिक सूत्रों के उदाहरण छोड़ दिए गए हैं। पर सामान्य रूप से काव्य में अन्यत्र वार्तिकों के भी उदाहरण दिए गए हैं। केवल वैदिक सूत्रों को क्रम से निकाला गया है।

सर्वप्रथम भट्टि काव्य में 1.4.23 से 1.4.54 तक पाणिनि सूत्रों के

---

1. Bhatti Kavya, A Study, Delhi, 1969, pp. 96.
   41 case endings. In all the sutras injuncting the ending of a case, only one example is given throughout the Bhatti Kavya.

2. Bhatti-Kavya—A Study, Dr. Narang.
   Such examples which require a further explanation with the help of the vartikas, are not treated fully in the Bhatti-Kavya. In such cases also, only one example is given.

उदाहरण 8.70 से 8.84 तक के श्लोकों में कारकाधिकार का वर्णन किया है। इसके बाद पा० 1.4.83 से 1.4.93 तक कर्म प्रवचनीयों का वर्णन भ० का० 8.85 से 8.93 तक के श्लोकों में पा० 2.3.1 से 2.3.73 तक के सूत्रों का विभक्त्याधिकार भ० का० 8.94 से 8.130 तक के श्लोकों में दिया गया है।

कारकाधिकार

1. "कारके" पा० 1.4.23 सूत्र से अपने काव्य-उद्धरण भट्टि ने अष्टम सर्ग के 70वें श्लोक से प्रारम्भ किए हैं। कारक का अधिकार ग्रहण करते हुए सबसे पहले अपादान संज्ञा का उदाहरण दिया है। वृक्षाद् वृक्षं परिक्रामन, भ० का० 8.70 पाणिनि के अनुसार जिससे कोई वस्तु अलग हो उसे अपादान कहते हैं।[1] इस नियम के बाद

   काशिका में एक वार्तिक "जुगुप्सा विराम प्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" है। भट्टि पाणिनि—क्रम से उदाहरण देते हुए वार्तिक को छोड़ देता है। अत्यन्त काव्य में वार्तिकों के भी उदाहरण दिए गए हैं। व्यरंसीत् कृताऽकृतेभ्य: क्षितिपालभाग्भ्य:। भ० का० III.21। उन्होंने राजाओं के योग्य अलंकार भी नहीं पहने। व्यरमत् प्रधनाद् यस्मात् परित्रस्त: सहस्रदृक्। भ० का० 8.53 इन्द्र जिससे भयभीत होकर युद्ध से विरत हो गए।

2. भयार्थक तथा त्राणार्थक धातुओं के योग में भय—हेतुभूत कारक की "अपादान संज्ञा होती है।"[2] भट्टि काव्य में भयार्थक धातुओं में से एक और "त्राणार्थक" धातुओं में से दो के उदाहरण दिए गए हैं।

   रावणाद् बिभ्यती भृवाम्। भ० का० 8.70 रावण से बहुत ही डरती हुई। शत्रोस्त्राणमपश्यन्तीम्। भ० का० 8.70 शत्रु से रक्षा नहीं देखती हुई। रक्ष्यां दशाननात्। भ० का० 8.71 रावण से रक्षा करने योग्य।

---

1. ध्रुवमपायेऽपादानम्, 1.4.24. 2. भी लर्थानाम् भयहेतु:, 1.4.25.

3. परापूर्वक "जि" धातु के प्रयोग में जो असह्य होता है उसकी अपादान संज्ञा होती है।[1]
   तां पराजयमानां स प्रीते। भ० का० 8.71 प्रीति से विमुख होती हुई।

4. वारणार्थक धातुओं के योग में इष्ट कारक की अपादान संज्ञा होती है।[2] रक्ष्यां दशाऽऽननात्। भ० का० 8.71 रावण से रक्षा करने योग्य भट्टिकाव्य की टीका में उपर्युक्त उद्धरण में "भी त्रार्थानाम् भयहेतुः" सूत्र से भी अपादान संज्ञा मानी गई है और "वारणार्थानामिप्सितः। (सूत्र से भी। इस टीका में जयमंगल के अनुसार सीता की आत्मरक्षण सम्बन्धी क्रिया से रावण को हटाना इष्ट है इसलिए इसकी अपादान संज्ञा दोनों सूत्रों से उचित है।

5. व्यवधान होने पर जिससे अपने अदर्शन की इच्छा प्रतीयमान हों उसकी अपादान संज्ञा होती है।[3]

   अन्तर्दधानां रक्षभ्यो। भ० का० 8.71 राक्षसों से अन्तर्हित होती हुई।

6. नियमपूर्वक विद्या-ग्रहण होने पर प्रतिपादक कारक की अपादान संज्ञा होती है।[4]

   रामादधीत संदेशों वायोर्जातिश्च्युत स्मिताम्। भ० का० 8.72.

विशेष—रामचन्द्र जी से सन्देश को लेने वाले वायुपुत्र कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने यहाँ "रामादधीतसन्देशो" में सन्देश उसी समय ग्रहण किया गया है नियम पूर्वक विद्या का अध्ययन नहीं है, वह सन्देश भी सीता तक पहुँचाने के लिए है। इसलिए न तो राम यहाँ नियमित गुरु हैं और न ही हनुमान नियमित शिष्य। अतः "रामाद्" में पंचमी विभक्ति पाणिनि नियमों के अनुसार उचित नहीं है, लेकिन इस श्लोक की टीका में कहा गया है कि, "भक्ति पूर्वकत्वात् सन्देशस्य विद्यावदग्रहणम्"। यह कह कर इस प्रयोग को ठीक माना गया है। पर पाणिनि नियम के अनुसार यह

---

1. पराजेरसोढः अष्टा, 1.4.26.
2. वारणार्थानामिप्सितः, 1.4.27.
3. अष्टाध्यायी, 1.4.28.
4. वही, 1.4.29.

प्रयोग अशुद्ध है। डॉ० नारंग[1] ने भी सायण के अनुसार इस प्रयोग को अनुचित माना है।

7. जन धातु के कर्ता की जो प्रकृति होती है उसकी अपादान संज्ञा होती है। भू धातु के कर्ता के उत्पत्ति स्थान की भी अपादान संज्ञा होती है।[2]

वायोजतिश्च्युत स्मिताम्। भ० का० 1.72 वायुपुत्र ने शोक के कारण हास्य रहित।

प्रभवन्ती मिवादित्यादपश्यत्। भ० का० 1.7 सूर्य से प्रादुर्भूत होती हुई को देखा।

8. अपादान संज्ञा के बाद भट्टि सम्प्रदान संज्ञा के उदाहरण प्रारम्भ करते हैं। जिसको उद्देश्य करके अच्छी तरह दान दिया जाए उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।[3]

रक्षोभ्य: प्रस्तवाष् श्रियम्। भ० का० 8.73 राक्षसों को सम्पत्ति देने वाला कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् "अष्टा० 1.4.32 सूत्र के बाद" क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम् तथा कर्मण: करण संज्ञा वक्तव्या सम्प्रदानस्य च कर्म संज्ञा—इन दोनों वार्तिकों के उदाहरण भट्टि अपने क्रम में न देकर शेष काव्य में देते हैं।

तेभ्यो दुह्यद्भ्योऽपि क्षमागहे। भ० का० 4.39 उन द्रोह करने वालों को क्षमा करते हैं।

9. रुच्यर्थक धातुओं के प्रयोग में प्रीयमाण अर्थ की सम्प्रदान संज्ञा होती है।[4] रोयमान: कुदृष्टिभ्यों। भ० का० 8.73 कुबुद्धियों को रुचिकर।

10 श्लाघ्—हुङ्—स्था एवं शप् इन धातुओं के योग में जिसको जाना जाये उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।[5] भट्टि काव्य में केवल "श्लाघ्" और "हुङ्" धातुओं के ही उदाहरण दिए गए हैं।

---

1. भट्टी काव्य, ए स्टडी, दिल्ली, 1969, पृ० 110-111.
2. अष्टाध्यायी, 1.4.30, 1.4,31.
3. वही, 1.4.32.
4. वही, 1.4.33.
5. वही, 1.4.34.

श्लाघमानः परस्त्रीभ्यः । भ० का० 8.73 परस्त्रियों की स्तुति करने वाला निह्नुवानोऽसौ । सीतायै भ० का० 8.74 इसने सीता से छिपा कर ।

11. "धृ" धातु के प्रयोग में ऋण देने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।[1] धारयन्निव चैतस्यै । भ० का० 8.74 इसकी ऋणी के सदृश होकर ।

12. "स्पृह" धातु के प्रयोग में ईप्सित कारक को "सम्प्रदान संज्ञा होती है ।"[2] तस्यै स्पृह्यमाणोऽसौ । भ०का० 8.75 उसको पाने की इच्छा करते हुए ।

13. क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्या, असूया के अर्थ में प्रयुक्त धातुओं के योग में जिसके प्रति क्रोध किया जाए उसकी सम्प्रदाय संज्ञा होती है ।[3] क्रुध् और असूया धातुओं के उदाहरण भ० का० में क्रम से दिए गए हैं ।

सीतायै नाऽक्रुध्यन्नाप्यसुयत् । भ० का० 8.75 सीता से न तो क्रुद्ध हुआ न असूया की ।

14. जब क्रुध और द्रुह ' धातुओं के साथ उपसर्ग का प्रयोग हो तो जिसके प्रति क्रोध किया जाए उसकी कर्म संज्ञा होती है ।[4]
संक्रुध्यति मृषा किं त्वं दिदृक्षुं मां मृगेक्षणे । भ० का० 8.76, हे मृगनयनी ! देखने की इच्छा रखने वाले मेरे ऊपर क्यों व्यर्थ क्रुद्ध होती हो ।

15. राध् और ईक्ष् धातुओं का कारक जिसके विषय में विविध प्रश्न किए जाते हैं, सम्प्रदान संज्ञक होता है ।[5]
ई क्षितव्यं परस्त्रीभ्यः । भ० का० 8.76 विविध प्रश्न करके परस्त्री को देखना ।

16. प्रतिपूर्वक एवं आङ् पूर्वक श्रु धातु के योग में जो पूर्व प्रेरणा रूप व्यापार का कर्त्ता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है । अनु एवं प्रति० पूर्वक गृ धातु के योग में पूर्व प्रेरणा रूप व्यापार की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।[6]

---

1. अष्टाध्यायी 1.4.35.
2. वही, 1.4.36.
3. वही, 1.4.37.
4. वही, 1.4.38.
5. वही, 1.4.39.
6. वही, 1.4.40-41.

श्रएवद्भयः प्रतिश्रृण्वन्ति मध्यमा भीरू नीतमाः ।
गृणद्भ्योऽनुगृणन्ति अन्येऽकृतार्था नैव मद्विधाः ।। भ० का० 8.77

हे भीरु ! मध्यम श्रेणी के प्रभुलोग शास्त्रज्ञों के उपदेश को अङ्गीकार करते हैं परन्तु, उत्तम श्रेणी के नहीं । अकृतार्थ दूसरे प्रभुलोग स्तुति करने वालों को देने की इच्छा को प्रकाशित करने वाले भाषणों से प्रोत्साहित करते हैं परन्तु, मेरे जैसे प्रभुलोग नहीं । स्तुति के विना ही याचकों को देते हैं ।

17. **करण संज्ञा**

क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक के रूप में विवक्षित कारक की करण संज्ञा होती है ।[1]

इच्छ स्नेहेन दीव्यन्ती विषयान् भुवनेश्वरम् । भ० का० 8.78
विषयों से क्रीडा करती हुई स्नेह से लोकेश्वर मुझे स्वीकार करो ।

18 "दिव" धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा और करण संज्ञा दोनों होती है ।[2] भट्टि काव्य में केवल कर्म संज्ञा का ही उदाहरण दिया गया है । करण संज्ञा को छोड़ दिया है ।

दीव्यन्ती विषयान् । भ० का० 8.79
विषयों से क्रीडा करती हुई ।

19. भट्टि काव्य में परिक्रयण अर्थ में साधकतम कारक की सम्प्रदान संज्ञा की गई है ।[3]

संभोगाय परिक्रीतः । भ० का० 9 78 विषयोपभोग से नियत काल को तुमसे सेवा के लिए स्वीकृत होकर ।

20. क्रिया के आश्रयभूत कर्ता तथा कर्म की धारणा क्रिया के प्रति आधारभूत कारक की अधिकरण संज्ञा होती है ।[4]

आस्व साकं मया सौधे—भ० का० 8.79 मेरे साथ महल में रहो ।

21. अधि, उपसर्ग पूर्वक 'शीङ्', 'स्था' एवम् 'आस्' धातुओं के आधार

---

1. अष्टाध्यायी, 1.4 42.
2. वही, 1.4 43.
3. वही, 1.4 44.
4. वही, 1 4.45.

की कर्म संज्ञा होती है।[1] तीनों धातुओं के उदाहरण भट्टिकाव्य में उपलब्ध हैं।

माऽधिवात्सीर्भुवं, शय्यामधिशेष्व स्मरोत्सुका। भ० का० 8.79. जमीन में मत बैठो, कामार्थिनी होकर शय्या पर लेटो। माऽधिष्ठा-निर्जनं वनम्। भ० का० 8.79. निर्जन वन में मत रहो।

22. अभि तथा 'नि' उपसर्गों से विशिष्ट 'विश्' धातु के आधार की कर्म संज्ञा होती है।[2] अभिन्यविक्षथास्त्वं में यथैवाऽव्याहृता मनः। भ० का० 8.80.

23. उप, अनु, अधि अथवा आङ् उपसर्ग से विशिष्ट 'वस्' धातु के आधार की कर्म संज्ञा होती है।[3] तवाप्यध्यावसन्तं मां रौत्सीहृ्दयं तथा भ० का० 8.80.

इस सूत्र के बाद सिद्धान्त कौमुदी में एक कारिका दी गई है—

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

जिसके अनुसार 'उभयतः, सर्वतः उपर्युपरि, अधोऽधः, अध्यधि धिक् तथा अभितः, परितः, समया, हा और प्रति, निकषा।

'अभितः परितः समया निकषा हा प्रति योगेऽपि' अन्तरा अन्तरेण युक्ते के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है। भट्टि काव्य में परितः धिक्, अभित हा के ही उदाहरण अधिक मिलते हैं।

निराकरिष्णू वर्तिष्णू वर्धिष्णू परितो रणम्। भ० का० 5.1; रक्षांसि वेदीम् परितो निरास्थदंगान्ययाक्षीदभितः प्रधानम्। भ० का० 1.12; धिग्लोकं क्षुद्रमानसम्। भ० का० 5.40; धिक्केकयीमित्यपरो जगाद। भ०का० 3.10; हा पितः क्वाऽसि हे सुभ्रु। भ० का० 6.11.

दुर्घटवृत्ति में 'पितृ' शब्द के साथ सम्बोधन के प्रयोग करने पर आपत्ति उठाई गई है, क्योंकि (2.3.2) अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि वार्तिक के अनुसार 'हा' के योग में कर्म कारक का प्रयोग होता है। इसलिए यहाँ सम्बोधन का प्रयोग अनुचित है। पर इस समस्या का समाधान यह कहकर दिया है कि दुःख और वियोग की ओर 'हा' अव्यय संकेत करता है। किसी व्यक्ति को याद करने के कारण अष्टाध्यायी के

1. अष्टाध्यायी, 1.4.46. 2. वही, 1.4.47.
3. वही, 1 4.48.

सूत्र 2.3.47 (सम्बोधने च) से यहाँ प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त हो सकती है। इसलिए यह प्रयोग ठीक है।[1] एक अन्य कारण से भी इस प्रयोग को ठीक माना जा सकता है क्योंकि कारक विभक्ति उपपद विभक्ति की अपेक्षा बलवती होती है अतः कर्त्ता कारक का प्रयोग उपपद विभक्ति की अपेक्षा ज्यादा उचित है।[2]

24. क्रिया के द्वारा कर्त्ता को जो इष्टतम कारक हो उसकी कर्म संज्ञा होती है।[3] माऽवमंस्था नमस्यन्तमकार्यज्ञे। जगत्पतिम। भ० का० 8.87; कार्य ज्ञान रहित सोते। नमस्कार करने वाले जगत्पति मेरा अपमान मत करो।

25. इष्टतम के समान ही कर्त्ता की क्रिया से युक्त अनीप्सित कारक भी कर्म कहलाता है।[4] संदृष्टे मयि काकुत्स्थमधन्यं कामपेत का? भ० का० 8.81.

26. अपादान आदि कारक विशेष से अविवक्षित कारक भी कर्म कहलाता है।[5] यः पयो दोग्धि पाषाणं, स रामाद् भूतिमाप्नुयात्। भ० का० 8 82.

इस नियम की व्याख्या काशिका में एक कारिका के द्वारा की गई है जिसके अन्तर्गत 16 द्विकर्मक धातुओं के गौण कारक की कर्म संज्ञा होती है। भ० काव्य में दुह्यादि अधिकार में क्रम से परिगणित इन धातुओं के उदाहरण दिए गए हैं। केवल कथित धातुओं के ही नहीं, अपितु उनसे अर्थ—साम्य रखने वाली अन्य धातुओं के भी उदाहरण दिए गए हैं।

प्रच्छ—सोऽपृच्छल्लक्ष्मणं सीतां। भ० का० 6 8 लक्ष्मण से सीता के विषय में पूछा।

याच्—याचमानः शिवं सुरान्। भ० का० 6.8 देवताओं से शुभः की प्रार्थना करते हुए।

---

1. दुर्घटवृत्ति, पृ० 44.
2. सिद्धान्त कौमुदी अच्युतानन्द शास्त्री, पृ० 63 पाणिनि सूत्र नमः स्वस्ति स्वाहा·· पर उपपद विभक्तेः कारक विभक्तिर्बलीयसी।
3. अष्टाध्यायी, 1.4.49.
4. वही, 1.4.50.
5. वही, 1.4.51.

ब्रू —रामं यथास्थितं सर्वं भ्राता ब्रूते स्म विह्वलः। भ० का० 6.8. इन्होंने विह्वल होकर राम को सब बात बताई।

भिक्ष—भिक्षमाणो वनं प्रियाम्। भ० का० 6.9 वन से प्रिया की प्रार्थना करते हुए।

दुह्—प्राणान् दुहन्निवात्मानं। भ० का० 6.9 शरीर को प्राण शून्य करते हुए।

रूध्—शोकं चित्तमवारुधत्। भ० का० 6.9 चित्त में शोक का प्रवेश करवाया।

चि —गता स्यादवचिन्वाना कुसुमान्याश्रमद्रुमान् भ० का० 6.10, आश्रम के वृक्षों से फूल तोड़ने गई होगी।

शास्—आ यत्र तापसान्धर्मं सुतीक्ष्णः शास्ति तत्र सा। भ० का० 6.10; जहाँ सुतीक्ष्ण मुनि तपस्वियों को धर्म का उपदेश करते हैं।

भट्टि काव्य में अन्यत्र भी इन 16 द्विकर्मक धातुओं से अर्थ-साम्य रखने वाली धातुओं के भी उदाहरण दिए गए हैं।

स्थास्नुं रणे स्मेरमुखो जगाद मारीच मुच्चैर्वचनं महार्थम्, भ० का० 2.32, रण में स्थिर होने वाले मारीच को विशिष्ट अर्थपूर्ण वचन कहा। भिक्षमाणो वनम् प्रियाम्। भ० का० 6.9.

कारिका में वर्णित धातुएँ 'ब्रू' और 'याच्' हैं जबकि भट्टि काव्य में इनकी जगह 'गद्' और 'भिक्ष' धातुओं का प्रयोग किया गया है भट्टोजि दीक्षित इस कारिका की व्याख्या करते हुए तथा 'अकथितं च' सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वीकार करते हैं कि कारिका में वर्णित 16 धातुओं तथा उनकी अर्थ समानता रखने वाली अन्य धातुओं के भी दोनों कारकों की कर्म संज्ञा हो जाती है।[1]

27. गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, भक्षणार्थक, शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं की अण्यन्तावस्था के कर्त्ताओं की ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा होती

---

1. प्रौढ़ मनोरमा, पृ० 658, सीता राम शास्त्री, शब्द कौस्तुभ, पृ० 131, गोपाल शास्त्री।

है ।[1] भट्टि काव्य में गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, भक्षणार्थक, तथा अकर्मक 'शीङ्' और शब्द कर्मक 'लप्' धातुओं के उदाहरण मिलते हैं ।

रावणं गमय प्रीतिं बोधन्तं हिताऽहितं । भ० का० 8.82; हिताहित समझाने वाले रावण की प्रीति उत्पन्न करो। प्रीतोऽहं भोजयिष्यामि भवतीं भुवनत्रयं । भ० का० 8.83; प्रसन्न हुआ मैं तुम्हें तीनों लोकों का भोज्य पदार्थ दिलाऊँगा । पार्श्वे शायय रावणम् । भ०का० 8.83; किं विलापयसेऽत्यर्थं । भ० का० 8.83; जनका ने वह धनुष सौंपा जिससे शिव ने दैत्यपुरी का ध्वंस किया था । अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तद्येनार्दिदद् दैत्यपुरं पिनाकी । भ० का० 2.42.

डॉ० नारंग ने[2] अनेक विद्वानों के विचार देते हुए कहा है कि 'अजिग्रहत्तं' भट्टि काव्य 2.42, में 'ग्रह' धातु द्विकर्मक धातुओं में नहीं आती अत: सायणाचार्य के मत[3] में यह प्रयोग अनुचित है । पर एक अन्य टीका-कार 'शंकराचार्य' का मत देते हुए कहा है कि 'अजिग्रहत्त' को 'बुद्ध्यर्थक' मानते हुए कर्म कारक का प्रयोग उचित है । जयमंगल ने भी इसी प्रकार व्याख्या करते हुए इस द्विकर्मक के प्रयोग को उचित माना है । भट्टोजि दीक्षित[4] प्रौढ़मनोरमा में एक अज्ञात टीकाकार सुधाकर का नाम भी उद्धृत करते हैं जो 'ग्रह' धातु को द्विकर्मक मानते हैं और 'अजिग्रहत' की व्याख्या 'बोधितवान्' के रूप में करते हैं ।

28 'हृ' तथा 'कृ' धातुओं का अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्म संज्ञक होता है ।[5] भट्टि काव्य में 'हृ' धातु के कर्त्ता व कर्म संज्ञा तथा धातु के कर्त्ता की करण संज्ञा की गई है—मां प्रियाण्युपहारय । भ० का० 8.84. अभीष्ट पदार्थ लाने के लिए मुझे प्रेरित करो । आज्ञां कारय रक्षोभि । भ० का० 8.84. राक्षसों को आज्ञा मानने के लिए प्रेरणा करे ।

29. क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित कारक को कर्त्ता कहते

1. अष्टाध्यायी, 1.452 2.
2. भट्टि काव्य, एक स्टडी, दिल्ली, पृ० 102-103.
3. माधवीया धातुवृत्ति, पृ० 54.
4. प्रौढ़ मनोरमा, पृ० 667-668, सीता राम शास्त्री ।
5. अष्टाध्यायी, 1 4.53.

है ।[1] इन्द्र के द्वारा सिर पर रखे हुए अंजलि को कौन नहीं चाहेगा, **कः शक्रेण कृतं नेच्छेदधिमुर्धनिमंजलिम्** । भ० का० 8.84; राजा ने पहले ऐसा विचार किया । **इत्थम् नृपः पुर्वमवालुलोचे** । भ० का० **1.23.**

इस वाक्य में डॉ० सत्यपाल नारंग[2] के अनुसार 'नृप' के स्थान पर 'नृपेण' का प्रयोग होना चाहिए । पर भट्टिकाव्य पर जयमंगल की टिप्पणी के आधार पर भट्टोजि दीक्षित 'शब्द कौस्तुभ'[3] और सिद्धान्त कौमुदी[4] में इसे 'विभक्ति परिणाम' का कारण बताते हैं ।

'कारकाधिकार' के बाद भट्टि काव्य में कर्म प्रवचनीय का अधिकार क्रम से दिया गया है ।

1. भट्टि काव्य में 'लक्षण' अर्थ में 'अनु' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[5] वचनं रक्षसां पत्युरनुक्रुद्धा पति प्रिया । भ० का० 8.85; पतिव्रता राक्षसों के राजा के वचन से क्रुद्ध हुई तथा यहाँ 'कर्म प्रवचनीय' के योग में कर्म संज्ञा की गई है ।[6] तृतीया विभक्ति के अर्थ द्योतक 'अनु' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा[7] पापाऽनु सीता रावणं प्राब्रवीद्वचः । भ०का० 8.85 पाप से सम्बद्ध रावण को वचन कहा । भ० का० में 'हीन' अर्थ के द्योतक 'अनु' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा ।[8] न भवाननु रामं । भ० का० 8.86 तू राम से हीन नहीं है ।
2. भ० का० मे 'हीनता' और 'अधिकता' अर्थों में 'उप' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[9] न भवाननु रामचेदुप शूरेषु वा । भ०का० 8.86, तुम्हारा आचरण शूर से हीन नहीं है; उप शूरं न ते वृत्तं । भ० का० 8.87
3. 'वर्जन' अर्थ में 'अप' और 'परि' की तथा 'मर्यादा और 'अभिविधि' अर्थ में 'आङ्' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[10] तथा इनके योग मे

---

1. अष्टाध्यायी, 1 4.54.
2. भ० का०—ए स्टडी, दिल्ली, 1969, पृ० 99.
3. शब्द कौस्तुभ, पृ० 89·90, पा० सूत्र 1·3·76, गोपाल शास्त्री ।
4. सिद्धान्त कौमुदी, पृ० 272, अच्युतानन्द शास्त्री ।
5. अष्टाध्यायी. 1.4.84.
6. वही, 2.3.8.
7. वही, 1 4.85.
8. वही, 1.4.86.
9. वही. 1.4.87.
10. वही, 1.4.88 89.

पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है ।

यत् संप्रत्यपलोकेभ्यो लंकायां वसतिर्भयात्—भ० का० 8.87 जो अभी डर से लोगों को छोड़कर लंका में रहता है; आ रामदर्शनात् पाप—भ० का० 8.88.

4 'प्रति' की लक्षण अर्थ में, 'परि' की वीप्सा अर्थ में और 'अनु' की इत्थं भूत अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[1] विद्योतस्व स्त्रियः प्रति । भ० का० 8.88 ।

दुर्वृत्तः । भ० का० 8.88 । सज्जनों के प्रति दुश्चरित होता हुआ परस्त्री से प्रति काम विकार वाला होता हुआ परस्त्री परि जातमन्मथः । भ० का० 8.88.

5. भ० का० में 'लक्षण' अर्थ में 'अभि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[2] अभिद्योतिष्ठयते रामो भवन्तमचिरादिह । भ० का० 8.89, शीघ्र ही राम तुझे लक्ष्य करके लंका में दीप्यमान होंगे ।

6. भट्टि काव्य में 'प्रति' की प्रतिनिधि अर्थ में कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[3] उद्गुर्णबाणः संग्रामे यो नारायणतः प्रति । भ० का० 8 89. युद्ध में बाण उठाने वाले जो नारायण के समान हैं ।

7. भट्टि काव्य में अनर्थक 'अधि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[4] कुतोऽधियास्यसि क्रूर । भ० का० 8.90. तू कहाँ जाएगा ।

8. अतिक्रमण अर्थ में 'अति' की तथा पूजा अर्थ में 'सु' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[5] न सूक्तं भवताऽत्युग्रमति रामं मदोद्धत । भ० का० 8.90 । हे मदोद्धतः । तूने अति उग्र प्रकार से राम जी को लंघन करके अच्छा नहीं कहा ।

9. 'पदार्थ' और 'सम्भावना' अर्थ में 'अपि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की है । अन्वसर्ग, यहाँ अर्थ में भी 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है ।[6] पदार्थ अर्थ में—परिशेषं न नामाऽपि स्थापयिष्यति ते विभुः । भ० का० 8.91 । सम्भावना अर्थ में—अपि स्थाणुं जयेद रामो, भवती ग्रहणं

1. अष्टाध्यायी, 1.4.90.
2. वही, 1.4.91.
3. वही, 1.4.92.
4. वही, 1.4.93.
5. वही, 1.4.94-95.
6. वही, 1.4.96.

भ० का० 8.91 । अन्वसर्ग अर्थ में—अपि स्तुह्यपिसेधाऽस्मांस्तथ्यमुक्तं नराऽशन । सच्ची बात कही है । मेरी प्रशंसा कर या निषेध कर मैने भ० का० 8.9; गर्हा अर्थ में—अपि सिंचे कृशानौ त्वं दर्पं, मध्यपि योऽभिक: । भ० का० 8.92; मेरे विषय में भी कामुक होता है । ऐसा तू आग में खाककर ।

10. "स्व स्वामिभावसम्बन्धार्थ में अधि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है ।[1] इस सम्बन्ध में कर्म प्रवचनीय विभक्ति सप्तमी की गई है । अधि रामे पराक्रान्तमधिकर्ता स ते क्षयम् । भ० का० 8.93. पराक्रम के स्वामी राम में पराक्रम है वे तेरा नाश करेंगे ।
11. 'कृञ्' धातु परे रहते 'अधि' की विकल्प से कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है ।[2] भट्टि काव्य में विभाषा का ग्रहण कर कर्मप्रवचनीय संज्ञा के अभाव में 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति का ग्रहण किया गया है । अधिकर्त्ता करिष्यति से क्षयम् । भ० का० 8.93.

विभक्त्याधिकार

कर्म प्रवचनीय का वर्णन करने के बाद भट्टि काव्य में भट्टि पाणिनि अष्टाध्यायी के 2.3.1 से II 3.73 तक के विभक्ति प्रकरण के सूत्रों का वर्णन करते हैं । इन 73 सूत्रों में से चार वैदिक सूत्रों तथा चार अन्य सूत्रों को (II.3.8 से II. 3.11) जो कि कर्म प्रवचनीयों के लिए विभक्ति व्यवस्था करते हैं उन्हें छोड़ दिया है । भट्टि काव्य में यद्यपि पाणिनीय नियमों का ही अनुसरण किया गया है फिर भी कुछ स्थानों पर अनियमितताएँ पाई जाती हैं जिनका उल्लेख बाद में वैयाकरणों ने पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करते हुए किया है । अब 'अनभिहिते II.3.1 सूत्र के अधिकार से विभक्ति प्रकरण का वर्णन किया गया है ।

सकर्मक धातुओं के कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है ।[3] ततः खड्गं समुद्यम्य रावण: कुरविग्रह । भ० का० 8.94.

'अन्तरा' शब्द के योग में भट्टि काव्य में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है ।[4] इससे पहले 'तृतीया च ह्यो श्छन्दसि' II 3.3 का उदाहरण

1. अष्टाध्यायी, 1.4 97.
2. वही, 1.4.98
3. वही, 2.3 1.
4. वही, 2.3 4.

नहीं दिया गया। वैदेहीमन्तरा क्रुद्धः। भ० का० 8 94.

भ० का० में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त संयोग की प्रतीति होने पर द्वितीया विभक्ति होती है।[1] क्षणमूचे विनिश्वसन्। भ०का० 8.94.

भ० का० में फल प्राप्ति के बाद क्रिया की समाप्ति के गम्यमान होने पर कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों में अत्यन्त संयोग की प्रतीति होने पर तृतीया विभक्ति होती है।[2] चिरेणाऽनुगुणं प्रोक्ता। भ० का० 8.95.

दो कारकों के मध्य वर्तमान कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों से सप्तमी तथा पंचमी विभक्ति होती है। भट्टि काव्य में सप्तमी विभक्ति का उदाहरण दिया गया है।[3] न मासे प्रतिपक्षासे मां चेन्मर्ताऽसि मैथिलि। भ० का० 8.95.

इस नियम के बाद अष्टाध्यायी में चार सूत्र 'कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया' 2. 3.8.। 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' 2. 3.9। 'पंचम्यपाङ्परिभिः' 2.3.10 प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्मात् 2.3.11.

कर्म प्रवचनीयों में विभक्ति व्यवस्था के लिए आते हैं। इन सबके उदाहरण भट्टि काव्य में 'कर्मप्रवचनीयाधिकार' में दिए जा चुके हैं। इसलिए भट्टि ने यहाँ अपने क्रम में इनकी व्याख्या नहीं की है।

चेष्टा गम्यमान होने पर गत्यर्थक धातुओं के मार्ग भिन्न कर्मकारक से द्वितीया तथा चतुर्थी विभक्तियां होती हैं।[4] प्रायुङ्क्त राक्षसीर्भीमा मन्दिराय प्रतिव्रजन् —भ० का० 8.96। यहाँ मार्ग भिन्न मन्दिर से चतुर्थी कि हुई है।

सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।[5] भयानि दत्त सीतायै सर्वा यूयं कृते मम। भ० का० 8.96.

क्रियार्थ क्रिया उपपद रहने पर अप्रयुज्यमान धातु के अनभिहित कर्म से चतुर्थी विभक्ति होती है।[6] गते तस्मिन् समाजग्मु भर्याय प्रति मैथिलीम्। भ० का० 8 97.

---

1. अष्टाध्यायी, II 3 5.
2. वही, II. 3 6.
3. वही, III 3.7.
4. वही, III. 3.12.
5. वही, III.3 13.
6. वही, II.3 14.

तुमुन् प्रत्यय जोड़ने से किसी धातु से जो अर्थ निकलता है उसको प्रकट करने के लिए उसी धातु से बनी हुई भाववाचक संज्ञा का प्रयोग करने पर उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।[1] राक्षस्यो रावणप्रीत्यै क्रूर चोचुरलं मुहुः—भ० का० 8.97.

नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा अलम् तथा वषट् के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।[2] भट्टि काव्य में नमः, स्वस्ति और अलम्, तीनों के उदाहरण दिए गए हैं।

रावणाय नमस्कुर्याः, स्यात्सीते। स्वस्ति से ध्रुवम्। अन्यथा प्रातराशाय कुर्याम् कुर्याम् त्वामल वयम् —भ०का० 8.98। नमश्चकार देवेभ्यः —भ० का० 14.18. वः स्वस्ति —भ० का० 4.6.

'रावणाय नमस्कुर्याः तथा नमश्चकार देवेभ्यः' दोनों प्रयोग भट्टिकाव्य में पाणिनीय नियमों के अनुसार अनुचित हैं क्योंकि चतुर्थी विभक्ति 'नमः' शब्द के उपपद होने पर आती है[3], न कि नमः से युक्त कृ धातु का प्रयोग करने पर। ऐसा करने पर तो उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलीयसी होती है, अतः यहाँ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए। भट्टि काव्य में 8.98 श्लोक की टीका में जयमंगल और मल्लिनाथ को भी यह प्रयोग मान्य नहीं है। यदि यहाँ 'अनुकूलयितुम्' इस अर्थ की विवक्षा है तो द्वितीया की अपवाद स्वरूप चतुर्थी उचित है। 'साक्षात्प्रभृतीनि च'[4] इस सूत्र में—'नम्' शब्द की वैकल्पिक गति संज्ञा की गई है। जब इसकी गति संज्ञा होगी तो यह उपसर्ग की तरह माना जाएगा और इसमें द्वितीया विभक्ति आएगी। लेकिन जब इसकी गति संज्ञा नहीं होगी तो इसमें चतुर्थी विभक्ति होगी। यदि भट्टि ने गति संज्ञा न मानते हुए ऐसा प्रयोग किया है तो उचित है। लेकिन डॉ० नारंग[5] ने भट्टोजि दीक्षित[6] का मत दिया है कि उन्हें यह मान्य नहीं है कि गति संज्ञा के अभाव में इसमें चतुर्थी विभक्ति उचित होगी। क्योंकि गति संज्ञा के अभाव में 'नमः' के विसर्ग 'स' में परिवर्तित नहीं हो

1. अष्टाध्यायी, II.2 15. 2 वही, II 3 16.
3. वही, II.3.16. 4. वही, I.4.74.
5. भ० का० ए स्टडी, दिल्ली, 1969, पृ० 112-113.
6. शब्द कौस्तुभ, पृ० 227, पा० सूत्र 2,3.16 पर गोपाल शास्त्री।

सकते, यह परिवर्तन केवल गति संज्ञा होने पर ही हो सकता है।[1] भट्टोजि दीक्षित इसे महाभाष्य की व्याख्या के आधार पर ही उचित मानते हैं। पाणिनि सूत्र 2.3.16 पर व्याख्या के अनुसार पतंजलि[2] ने 'अलम्' 'योग्यता या सामार्थ्य' के लिए द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियों का प्रयोग ठीक माना है इसलिए 'मनः नमः' में भी दोनों विभक्तियों का प्रयोग उचित है।

अनादर गम्यमान होने पर 'मन्' धातु के प्राणिभिन्न कर्म से विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है।[3] तृणाय मत्वा ताः सर्वा वदन्ति स्त्रिय ऽवदत्। भ० का० 8.99। तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽय बाणेन रक्षः प्रधानान्निरास्थत्। भ० का० 2.36.

कर्त्ता तथा करण से तृतीया विभक्ति होती है।[4] स्वमांसं कुरुताऽशानम्। भ० का० 8.99.

सहार्थक के साथ युक्त अप्रधान से तृतीया विभक्ति होती है।[5] भट्टि काव्य में 'सह' और 'साकं' शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति प्रयुक्त है। अद्य सीता मया दृष्टा सूर्य चन्द्रमसा सह—भ० का० 8.101. आस्स्व साकं मया सौधे—भ० का० 8.70.

भट्टि काव्य में और लौकिक संस्कृत में सहार्थक भावना का प्रदर्शन सह, साकं, सार्द्धम्, समम्, समेतः इत्यादि शब्दों से किया जाता है लेकिन वैदिक भाषा तथा रामायण महाभारत के कुछ स्थानों पर इन शब्दों के प्रयोग के बिना भी सहार्थक भावना दिखाई जाती है। सहार्थक शब्दों का प्रयोग तो ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से प्रारम्भ हुआ दिखाई देता है।[6] देवो देवेभिर आ गमत्—(ऋग्वेद I.1.5)। पुत्र दारैश्च मोदध्वम् (महाभारत, 5 58.19)।

जिस विकृत अंग से अंगी का विकार लक्षित हो उससे तृतीया विभक्ति

---

1. अष्टाध्यायी, 8.3.40 नमस्पुरसोर्गत्योः।
2. पतंजलि महाभाष्य, वेदव्रत, संस्करण II, पृ० 787-888. पा० 2.3.16.
3. अष्टाध्यायी, II 3 17.
4. वही, II.3.18.
5. वही, II.3.19.
6. वही।

होती है।[1] भट्टि काव्य में इस सूत्र के दो उदाहरण दिए गए हैं। मध्येन तनुः श्यामा सुलोचना—भ० का० 8.100। मुखे भीमा।—भ० का० 8 101.

किसी व्यक्ति की विशेष दशा या अवस्था के बोधक लक्षण-वाचक शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है।[2] भीमैर्वचनकर्मभिः भ० का० 8.101.

सम् पूर्वक 'ज्ञा' धातु के कर्म से द्वितीया के स्थान में विकल्प से तृतीया होती है।[3]

गतासु तासु मैथिल्या संज्ञानानीऽनिलाऽऽत्मजः —भ० का० 8.102. कर्त्तृ भिन्न ऋणवाचक शब्द से पंचमी होती है।[4] ऋणाद्बद्धइवोन्मुक्तो वियोगेन क्रतुद्विषः —भ० का० 8.103.

गुण स्वरूप स्त्री लिंग भिन्न हेतुवाचक शब्द से विकल्प से पंचमी विभक्ति होती है[5] भट्टि काव्य में तृतीया विभक्ति का उदाहरण दिया गया है। वियोगेन क्रतुद्विषः —भ० का० 8.103.

हेतु शब्द के प्रयोग के द्वारा हेतु के द्योत्य होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।[6] हेतोर्बोधस्य मैथिल्याः प्रास्तावीद्रामसंकथाम् —भ०का० 8.103.

हेतु शब्द के प्रयोग द्वारा हेतु के द्योत्य होने पर सर्वनाम शब्दों से तृतीया तथा षष्ठी विभक्तियाँ होती हैं।[7] कस्ये हेतोः। भ० का० 8 104.

भ० का० में हेतु वाचक तृतीया विभक्ति होती है।[8] आयातेन दशाऽऽस्यस्य संस्थितोऽन्तर्हितश्चिरम् —भ०का० 8.102.

'अपादाने पंचमी' 2.3.28 सूत्र का उदाहरण भट्टि काव्य में कारकाधिकार में दिया है, अतः यहाँ इसे छोड़कर अगले सूत्र का उदाहरण दिया है।

अन्यार्थक, आरात्, इतर, ऋते, दिग्वाचक शब्द अंचूत्तरपद, आच् तथा आहि के योग में पंचमी विभक्ति आती है।[9] भट्टि काव्य में इस नियम के 6 उदाहरण दिए गए हैं। अवरुह्य तरोराशदैति वानर विग्रहः

---

1. अष्टाध्यायी, II.3.20.
2. वही, II 3.21.
3. वही, II.3.22.
4. वही, II.3.24.
5. वही, II.325.
6. वही, II 3.26.
7. वही, II.3.27.
8. वही, II.3.28.
9. वही, II 3.29.

भ० का० 8.104. वानर का शरीर लेकर पेड़ से उतर कर पास आ रहा है।

इस श्लोक पर भट्टि काव्य में टीका में कहा गया है कि 'आरात्' इस पद से किसी नाम वाचक पद के सम्बन्ध का अभाव होने से पंचमी नहीं होनी चाहिए। जयमङ्गल के अनुसार यदि इसका अन्वय 'तरो आरात् अवरुह्य' ऐसा किया जाए तो 'तरोः' में 'अन्यारादितरर्ते दिकशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इस सूत्र से पंचमी होगी। लेकिन इसका अन्वय यदि 'तरोः' अवरुह्य आरात् 'ऐति' हो जैसा कि श्लोक के अन्त्य में दिखाया गया है तो अलग होने के अर्थ में 'अपादाने पचमी' II.3.28 से ही पंचमी होगी। भरत के मतानुसार 'उपपदविभक्तेः कारक विभक्तिर्बलीयसी' इससे 'अपादाने पंचमी' सूत्र से ही पंचमी विभक्ति अन्य उदाहरण—

पूर्वस्मादन्वद् भाति भावाद्दाशरथिं स्तुवन् —भ०का० 8.105। ऋते कौर्यात् तमयातो मां विश्वासयितुं न किम् —भ० का० 8.105। इतरो रावणदेष राघवानुचरो यदि—भ० का० 8.106। सफलानि निमित्तानि प्राक् प्रभातात् ततो मम्— भ० का० 8.106। उत्तराहि वसन् रामः समुद्रात् रक्षसां पुरम्— भ० का० 8.107.

अतसुच् तथा इसके अर्थ में विहित प्रत्ययों से युक्त शब्दों से षष्ठी विभक्ति होती है।[1] अवैल्लवणलोयस्य स्थितां दक्षिणतः वयम् —भ० का० 8.107.

एनप् प्रत्ययान्त से युक्त शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है और षष्ठी भी।[2] भट्टि काव्य में कर्म का प्रयोग किया गया है। दण्डकान् दक्षिणेनाहं सरितोऽद्रीन् वनानि च— भ० का० 8.108.

पृथक्, बिना, नाना, इन शब्दों के योग में तृतीया तथा पंचमी विभक्तियाँ होती है।[3] तथा द्वितीया विभक्ति का भी प्रयोग होता है। पृथङ् नमस्वतश्चण्डद्वैनतेयेन वा विना—भ० का० 8.109.

असत्त्ववाची स्तोक, अल्प, कृच्छ्र तथा कतिपय शब्दों से करण में तृतीया तथा पंचमी विभक्तियाँ होती हैं।[4] भट्टिकाव्य में स्तोक तथा कृच्छ्र

---

1. अष्टाध्यायी, II.3.30.
2. वही, II 3.31.
3. वही II.3 32.
4. वही, 2.3.33.

के उदाहरण दिए गए हैं। इति चिन्तावती कृच्छ्रात् समासाद्य कपिद्विष:—भ० का० 8.110। मुक्तां स्तोकेन रक्षोभिः प्रोचेऽहं रामकिंकर: —भ०का० 8.110। भ० का० में दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों के योग में षष्ठी, पंचमी विभक्तियाँ होती हैं।[1] विप्रकृष्टं महेन्द्रस्य न दूरं विन्ध्यपर्वतात्—भ० का० 8.111.

भ० का० में दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों से द्वितीया, तृतीया तथा पंचमी विभक्तियाँ होती हैं।[2] विप्रकृष्टं महेन्द्रस्य —भ०का० 8.111.

भ० का० में अधिकरण कारक से तथा दुरार्थक और अन्तिकार्थक शब्दों से सप्तमी विभक्ति होती है।[3] नाऽनभ्यासे समुद्रस्य तव माल्यवति प्रिय: —भ०का० 8.111। भ० का० में जिसकी एक क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित हो उस क्रियावान् से सप्तमी होती है।[4] असंप्राप्ते दशग्रीवे प्रविष्टो हमिदं वनम्। तस्मिन् प्रतिगते द्रष्टुं त्वामुपाक्रंस्यचेतित:—भ० का० 8.112.

भ०का० में अनादर गम्यमान होने पर जिसकी एक क्रिया से दूसरी क्रिया का होना पाया जाए तो उस क्रियावान् से षष्ठी और सप्तमी भी विकल्प से होती है।[5] तस्मिन् वदति रुष्टाऽपि नाऽकार्ष देवि। त्विक्रमम्—भ० का० 8.113.

भ०का० में स्वामिन्, ईश्वर और अधिपति शब्दों के योग में भट्टि-काव्य में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति पाई जाती है।[6] वानरेषु कपि: स्वामी नरेष्वधिपते: सखा —भ०का०8.114। ईश्वरस्य निशाटानां विलोक्य निखिलां पुरीम्—भ०का० 8.115.

भट्टि काव्य में आयुक्त और कुशल शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति की गई है।[7] कुशलोऽन्वेषणस्याऽमायुक्तो दूत कर्मणि—भ० का० 8.115.

---

1. अष्टाध्यायी, 2.3.34.
2. वही, 2.3.35.
3. वही, 2.3.36.
4. वही, 2.3.37.
5. वही, 2.3.38.
6. वही, 2.3.39.
7. वही, 2.3.40.

भ० का० में निर्धारण में सप्तमी विभक्ति तथा निर्धारणाश्रय में विभाग करने में पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है ।[1] दर्शनीय तमाः पश्यन् स्त्रीषु दिव्यास्वपि स्त्रियः । प्राप्तो व्यालतनान् व्यसयन् भुजंगेभ्योऽपि राक्षसान् —भ० का० 8.116,

इस नियम के बाद भट्टि काव्य में पणिनीयन क्रम के एक सूत्र "साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ।" 2.3.43 का उदाहरण न देकर अग्रिम सूत्र की व्याख्या की है ।

"प्रसित" शब्द के साथ तृतीया विभक्ति और "उत्सुक" शब्द के योग में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग भट्टि काव्य में किया गया है ।[2] भवत्यामुत्सुको रामः प्रसितः संगमेन ते —भ०का० 8.117.

लुबन्त न नक्षत्रवाचक शब्दों से तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ विकल्प से होती है ।[3] भट्टि काव्य में सप्तमी विभक्ति का उदाहरण दिया गया है । मघासु कृतनिर्वापः पितृभ्यः मां व्यसर्जयत् —भ० का० 8.117.

प्रातिपदिकार्थ मात्र में, लिंग मात्र में परिमाणमात्र में तथा वचनमात्र में में प्रथमा विभक्ति होती है ।[4] भट्टिकाव्य में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा का उदाहरण दिया गया है । काकुत्स्थस्याङ्गुलीयक.—भ० का० 8.118.

सम्बोधन में प्रथमा का प्रयोग—[5] अयं मैथिल्यभिज्ञान ।—भ० का० 8.118.

इसके बाद "साऽऽमन्त्रितम्" 2.3.48 तथा "एकवचन सम्बुद्धि" 2.3.49 को छोड़कर कर्मादिभिन्न तथा प्रातिपदिकार्थ भिन्न स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध स्वरूप भ० का० में शेष में षष्ठी विभक्ति की है ।[6] अभिज्ञानंकाकुत्स्थस्याङ्गुलीयकः —भ० का० 8 118.

स्मरणार्थक धातु, दय "धातु तथा ईस" धातु के कर्मकारक की यदि

---

1. अष्टाध्यायी, 2.3.41.
2. वही, 2.3.44.
3. वही, 2.3.45.
4. वही, 2.3.46.
5. वही, 2.3.47.
6. वही, 2.3.50.

शेषत्वेन विवक्षा हो तो उससे षष्ठी विभक्ति होती है।[1] मवत्या: स्मरताऽस्यर्थमर्पित: सादरं मम —भ० का० 8.118। रामस्य दयमानोऽसावध्येति तव लक्ष्मण:।

गुणाधान अर्थ में विद्यमान कृञ् धातु का कर्म यदि शेषत्व विवक्षित रहे तब षष्ठी होती है।[2] उपास्कृषातां राजेन्द्रावागमस्येह मा कृती.—भ० का० 8.119.

भ० का० में भाववर्तृक 'रुजू" धातु के योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति की गई है।[3] रावणस्येह रोक्ष्यन्ति कपयो भीमविक्रमा: —भ० का० 8.120.

भ० का० में आशीर्वादार्थक "नाथ" धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति की गई है।[4] धृत्या नाथस्व वैदेहि —भा०का० 8.120.

सर्वनाम—भट्टि काव्य में वाक्य रचना में सर्वनामों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसमें सर्वनामों का प्रयोक लौकिक संस्कृत की तरह ही पाया जाता है। पुरुषवाचक सर्वनामों का प्रयोग प्राय: कम पाया जाता है। पुरुष, वाचक सर्वनाम का लिंग अपनी सम्बन्धित संज्ञा के अनुसार होता है। स राजा यथाऽध्वरे वह्निरभिप्रणीत: —भ०का० 1.4। निर्याया तस्या: स पुर: —भ० का० 2, 1.

अस्मद् और युष्मद् के आदेश, व: न:, वाक्य के प्रारम्भ में और भ० का० में "च्", "वा", "ह" हा और एवं आदि अव्ययों से पहले नहीं दिए गए हैं। दुष्टा: स्थ स्वस्ति वो याम: —भ० का० 4.6। धर्मो ह्यं दाशरथे। निजी नो नैवाऽध्यकारिष्महि वेदवृत्ते —भ० का० 2.34—भ०का० में "त्वं" के स्थान पर "भवत्" सर्वनाम का प्रयोग सम्मान के लिए किया गया है। अपकारे कृतेऽप्यज्ञो विजिगीषुर्न वा भवान् —भ० का० 5.9। भवन्तं कार्तवीर्यो यो हीनसन्धिमधीकरत् —भ० का० 5.33

अनुपस्थित व्यक्ति के लिए अधिक प्रदर्शन करते हुए एक वाक्य में भट्टिकाव्य में "भवत्" के साथ "तत्र" का प्रयोग किया गया है। कथं

---

1. अष्टाध्यायी, 2.3.52.
2. वही, 2.3.53.
3. वही, 2.3.54.
4. वही, 2.3.55.

नाम भवांस्तत्र नाऽवैति हितमात्मन:—भ० का० 18.16 । तद् सर्वनाम का प्रयोग भट्टि काव्य में प्रसिद्ध के अर्थ में है—तावासनाऽऽदि क्षितिपालपुत्रौ —भ० का० 2. 26.

किसी वस्तु की अपने समुदाय से किसी विशेषण द्वारा कोई विशिष्टता दिखलाई जाये तो उसके समुदाय वाचक शब्द से सप्तमी या षष्ठी विभक्ति पाई जाती है। उसमें "इष्ठन्" प्रत्यय का प्रयोग पाया जाता है—यमिनां वरिष्ठ:—भ०का० I.15 । वृन्दिष्ठमार्चीब्दसुबाऽधिपानां—भ० का० II.45.

भ० का० में केवल विशेषण के रूप में भी तमप् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। एकेन वाली निहत: शरेण सुहृत्तमस्ते, रचितश्च राजा—भ० का० XII.37.

कृदन्त प्रयोग

भट्टि काव्य में कृत् प्रत्ययों का प्रयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए किया गया है। वर्तमानकालिक कृत् प्रत्ययों का प्रयोग क्रिया की विशेष अवस्था का संकेत करता है। कृष्यन्कुलं घक्ष्यति—भ० का० I.23.

वाक्य रचना में लकारार्थ प्रत्ययों का योगदान

भट्टि काव्य में सभी लकारों का विभिन्न अर्थों में 15वें सर्ग से 22वें सर्ग तक विवेचन किया गया है। सभी लकार वाक्य रचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भ० का० में वर्तमानकालिक क्रिया को निर्दिष्ट करने के लिए लट् लकार का प्रयोग होता है। प्रियं श्रृणोति यस्तेभ्यस्तमृच्छन्ति न सम्पद:—भ० का० 18.5

भ० का० में लङ् लकार भूतकाल की क्रिया का निर्देश करता है। आशासत तत: शान्तिमस्नुरग्नीनहावयन्—भ० का० 17.1.

भ० का० में लिट् लकार आज से पहले की परोक्ष घटना का संकेत करता है—प्रययाविन्द्रंजित्प्रत्यक्—भ० का० 14.16.

भ० का० में लुङ् लकार भूतकाल की अनिश्चितकाल घटना की ओर संकेत करता है। सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट—भ० का० I.2.

भ० का० में लुट् और लृट् लकार का प्रयोग भविष्यतकाल के लिए

किया गया है। अयोध्यां श्वः प्रयातासि कपे भरतपालिताम्—भ० का० 12.1—किंकरिष्यामि राज्येन सीताया: किम् करिष्यते—भ० का० 16.1.

भ० का० में लोट् लकार का प्रयोग आज्ञा देने के लिए, प्रार्थना और उपदेश के अर्थ में किया गया है। न हि प्रेष्यवधं घोर करवाण्यस्तु से मतिः— भ० का० XX 6.

भ० का० में विधिलिङ् लकार का प्रयोग, विधि निमन्त्रण, आमन्त्रण, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थों में किया गया है। अशोच्योऽपि व्रजन्न॰ स्तम् सना भिरदुनुयान किम्—भ० का० XIX.I.

भ० का० में आशीर्लिङ् लकार का प्रयोग आशीर्वाद अर्थ में किया गया है। वर्धिषीष्ठाः स्वजातेषु वध्यास्त्वं रिपुसंहतीः भूयास्त्वं गुणिनां मान्यस्तेषां स्थेता व्यवस्थितौ—भ० का० XIX.26.

लृङ् लकार का प्रयोग उन सांकेतिक वाक्यों में होता है जिनमें कोई भूत या भविष्यत् कार्य किसी अन्य कार्य पर निर्भर करता हो, परन्तु कारण के न होने से कार्य न हो सकता हो। यह आश्चर्य प्रकट करने के लिए यच्च, यत्र और यदि के साथ भट्टि काव्य में प्रयुक्त होता है। आश्चर्य यच्च यत्र स्त्री कृच्छेऽवत्स्यंन्मते तव। त्रासादस्यां विनष्टायां किं किमालस्यथाः फलम्—भ० का० XXI 8.

अव्यय, क्रिया विशेषण—भट्टि काव्य में चिरं, उच्चै आदि क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। जगाद मारीचमुच्चैर्वचनं महार्थम्। भ० का० II.32; चिरं रुदित्वा करुणं सशब्दं गोत्राभिधायं सरितं समेत्य। भ० का० III.50.

संयोजक—भट्टि काव्य में, च, चेत्, क्व च, यदि, तथा, हि, वा आदि संयोजक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। च का प्रयोग बार-बार किया गया है। उपानेष्ट व तान् स्वकाले—भ० का० I.15; भरतऽभिषेको विषादशंकुश्च मतौ विचढने—भ० का० III.8 अस्माकमुक्तं बहु मन्यसे चेद्यदीशिषेत्वं न मयि स्थिते च—भ० का० III.53.

कल्पाऽन्तदुःस्था वसुधा तथोहे येनैष भारीऽति गुरुर्न तस्य—भ० का० II.39 अथ, इति—विभिन्न अर्थों में अर्थ, इति का प्रयोग भट्टि काव्य

में सामान्य है। अथाऽऽलुलोके हुतधूमकेतु—भ० का० II.24; तान् प्रत्य-वादीदथ राघवोऽपि—भ० का० II.28; मृगयुमिव मृगोऽथ दक्षिणेर्मा। भ० का० 4.44.

इति—पौरा निवर्तध्वमिति न्यगादीत्तातस्य शोकाऽपनुदा भवेत—भ० का० III.15; सार्धम् कुमार सेनान्य शून्यश्चासीति कोऽन्यः—भ० का० 5.7.

विस्मय सूचक अव्यय—बत्, हा, चित्रम् आदि विस्मय सूचक अव्ययों का भट्टिकाव्य में बहुलता से प्रयोग मिलता है। निम्न श्लोक में एक ही साथ अनेक विस्मय सूचक अव्ययों का प्रयोग किया गया है। आः कष्ट, बत ही चित्रं हू मातर्दैवतानि धिक्। हा पितः! क्वाऽसि हे सुभ्रु! बह्वेवं विलाप सः—भ० का० 6.11.

ग्रन्थानुक्रमणिका

अष्टाध्यायी	पाणिनि, श्री चन्द्रवसु सम्पादक दोनों भाग मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962 ई०
अष्टाध्यायी सूत्र पाठ	पाणिनि सम्पादक, सोनीपत, 1969.
आख्यात चन्द्रिका	सम्पादक जय कृष्णदास, हरिदास गुप्ता, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, 1936.
आख्यातिक	श्रीमत स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत व्याख्या सहित : अजमेर नगरे वैदिक मन्त्रालय विक्रमानदा 2017 मुद्रित ।
काशिका	वामन तथा जयादित्य, सम्पादक ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, बनारस, 1978.
काशिका	श्री वामन जयादित्य विरचिता पाणिनीय व्याकरण सूत्रवृत्ति (द्वितीय भाग) व्याख्या श्री नारायण मिश्र प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करणम् —विक्रम संवत् 2029.
काशिका वृत्ति (न्यास पद्मंजरी टीका सहित)	सम्पा० द्वारिका दास शास्त्री टी० पी० तारा पब्लिकेशन
प्रौढ मनोरमा	श्री भट्टोजि दीक्षित विरचित सम्पा० श्री सीताराम शास्त्री, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण 1964.
भट्टि काव्यम्	व्याख्याकार आचार्य श्री शेषराज शर्मा शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1976.
भट्टिकाव्य	सम्पा० विनायक शास्त्री, बम्बई, 1912.

भट्टिकाव्य — सम्पा० शिवदत्त, बम्बई, 1928.

भट्टिकाव्य — सम्पा० के० पी० त्रिवेदी, मल्लिनाथ की टीका सहित (दो संस्करण) बम्बई, 1897.

भट्टिकाव्य — सम्पा० वी० डी० प्रधान बी० ए० अम्बा प्रसाद प्रेस, पूना 1897.

भट्टिकाव्य — जी० जी० लिधोनार्डी (अंग्रेजी अनुवाद) अनुवाद तथा नोट्स, लिडेन ई० जे० ब्रील, 1972.

भट्टिकाव्य — अंग्रेजी अनुवाद तथा नोट्स सहित, महेश्वर अनन्त करन्दिरकर शैलग्राम करन्दिकर, मोतीलाल बनारसीदास, देहली, वाराणसी पटना, 1982.

भट्टिकाव्य, एक अध्ययन — अंग्रेजी संस्करण, डॉ० सत्यपाल नारंग, 1969.

मध्य सिद्धान्त कौमुदी — चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन, षष्ठ संस्करण, 1981, वाराणसी 221001.

लघु सिद्धान्त कौमुदी — सम्पा० धरानन्द शास्त्री।
मोतीलाल, बनारसीदास, 1976.

व्याकरण महाभाष्य — सम्पा० पं० चारुदेव शास्त्री (अनु०) दिल्ली, पटना, वाराणसी, मोतीलाल बनारसी दास, 1962.

वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी — श्री भटोजि दीक्षित विरचिता गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, 1977.
मोतीलाल, बनारसीदास दिल्ली, वाराणसी, पटना।

व्याकरण-चन्द्रोदय, प्रथम 1969, द्वितीय 1972, तृतीय 1971, चतुर्थ 1972, पंचम खण्ड — श्री चारुदेव शास्त्री दिल्ली, पटना, वाराणसी। प्रथम संस्करण, 1973.

वैदिक व्याकरण (प्रथम, द्वतीय भाग) — डॉ० रामगोपाल नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, चन्द्रलोक जवाहर नगर, दिल्ली-7.

	भाग-1 प्रथम सस्करण, 1965, 1973. भाग-2, द्वितीय संस्करण, 1973.
शब्दार्थ कौस्तुभ	सम्पा० पं० गोपाल शास्त्री चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस 1933.
संस्कृत भाषा	टी० बरो हिन्दी अनुवाद। डॉ० भोला शंकर व्यास। चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1965, डॉ० यज्ञवीर।
संस्कृत व्याकरण की रूपरेखा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली 1982.
संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे, 1966. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना।
संस्कृत व्याकरणम्	पं० श्री रामचन्द्र झा विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला (स्टूडेण्ट गाइड टू संस्कृत कम्पोजीशन आप्टे रचित का हिन्दी रूपान्तरण—अनु० डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय, विद्या भवन, संस्कृत ग्रन्थमाला।
वाजसनेयि प्रातिशाख्य	सम्पा० एवं व्याख्यान डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1975 जवाहर नगर, दिल्ली-110007.
कारक दर्शनम्	डॉ० कमलनाथ झा। हिन्दी टीका सहित। विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी 1969.
ऋग्वेद प्रातिशाख्यम् (उव्वट भाष्य सहित) आधुनिक ग्रन्थ	व्याख्याकार डॉ० वीरेन्द्र वर्मा। काशी हिन्दी विश्वविद्यालय शोध प्रकाशन, 1970.

भाषा विज्ञान — डॉ० कर्ण सिंह, प्रथम संस्करण, 1976, सर्वोदय प्रेस, मेरठ।

भाषा विज्ञान — सम्पा० डॉ० भोला नाथ तिवारी, किताब महल, 15 नार्थ हिल रोड, इलाहाबाद, 1970.

बृहद् अनुवाद चन्द्रिका — सम्पा० चक्रधर नोटियाल हंस शास्त्री एम० ए० संस्कृत, इलाहाबाद, मोतीलाल बनारसी दास, जवाहर नगर, दिल्ली, 1972-77.

संस्कृत व्याकरण — लेखक—ह्विटने

अंग्रेजी संस्करण—मोतीलाल बनारसीदास, 1969, हिन्दी अनुवाद—ज० मुनीश्वर झा प्रकाशक, उत्तर प्रदेश, हिन्दी अकादमी, लखनऊ, द्वितीय भाग 1971.

पाणिनि धातु पाठ — रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, सम्वत् 1031.

Agrawal V.S. — India as known to Paṇini, Lucknow, 1953.

Agrawal, V.S. — Paṇini Jor M. 19 (2) 12434.

Belvalkar, S.K. — System of Sanskrit Grammar, Poona, 1915.

Bhandari, M.S. — Paṇini Vyakaranasya Aithihyam, Woolner, Comm. Vol. 1940 7-16.

Bhattacharya, R.K. — Kinds of Agents (Karta) as Depicted by Paṇini Vak 3, 129-33.

Bhattacharya, R.K. — Aspects of Knowledge as Depicted by Paṇini.

Bhattacharya, R.K. — Paṇini Notion of the Authoritativeness of the view of his predecessors. Jojri 9 (2-4), 163-81.

Bhattacharya, R.K. — Some Chief Characteristics of Paṇini

in comparison to his predecessors JIO B 2 (2) 167-73.5 (1) 10-18.

Bhattacharya, R.K. — Some unknown senses of plural numbers as shown by Panini, Bombay 1954, 45-48.

Bohtlingk, Otto — His two editions of Panini's Grammar 1 Boan 1839-40; 2 Laipying 1887.

Burrow, I — The Sanskrit Language, London, 1955.

Chakravarti, P.C. — The Linguistic Speculations of the Hindus, Calcutta, 1933.

Chatterjee, K.C. — Technic, Technical Terms and Techniques of Sanskrit Grammar, Part I, Calcutta, 1948.

Chatterjee, K.C. — "The Critics of Sanskrit Grammar Deptt. Lett. University, 24, Calcutta.

Chatopadhyaya, K.C. — The Siva Sutra and the Sanskrit alphabet, Manjusa 5 (7) 1-6, 5 (8), 17-30.

Chatopadhyaya, K.C. — How Panini has been misunderstood, Tarapurwala, Mam. Vol (IL 17) 88-102.

Chattopadhyaya, K.C. — Technical Terms of Sanskrit Grammar NIR, 8 (2.3) 51-53.

Chaturvedi, S.P. — On the technique of anticipation in the application of the Paninian Sutras S.P. (15th AIOC) Bombay, 1949, p. 189.

Chaturvedi, S.P. — Panini Vocabulary; its learning on his date, Woolner Comm. Vol. 1949, 46-50.

Daoruck, B. — Introduction to the study of Language Leipying, 1882.

De. S.K. — History of Sanskrit Literature, Calcutta, 1949.

Dyen Isidora — The Sanskrit indeclinables of the Hindu Grammarians and Laxicographers. Ling, Soc. Am 1939.

Edgren, A.H. — On the verbal roots of the Sanskrit Language Jaes, II.

Faddegon, B. — Grammar of the indeclinables, Amsterdam, 1936.

Ghosh, Batakrishna. — Aspects of Pre-Panini Sanskrit Grammar, B.C. Law, Vol. I.

Ghosh, Batakrishna — Linguistic Introduction to Sanskrit, Calcutta, 1937.

Gray, L.H. — Foundations of Language, New York, 2nd Printing, 1950.

Ijihara, Y. — Penin-Panina-Panini-Panniniya JIVS 5, 328-18.

Jesperson, O. — Language, its nature, development and origin, London, 1928.

Keith — History of Sanskrit Literature, Oxford, 1961.

Leidecker, K.F. — Sanskrit Essentials of Grammar and Language, New York, 1934.

Mangala Deva Shashtri — The Relation of Panini's technical devices to his predecessors, proceedings of the Oriental Conference, Vol. II.

Mimanska, Y. — Sanskrit Vyakarana Sastra ka Itihas, Banaras, 1950.

Kale M.R. — A Higher Skt. Grammar, Motilal, Banarsidass, Delhi.

Narayana Dhattapada — Ahaniniya-Pramanya-Sadhanam O.R. 1 Tirupatti, 1968.

Pathak, P.S. & Chitro, P.S. — Word Index to Patankali's Mahabhasya, Poona, 1927.

Pawnte, I.S.	The Structure of the Astadhyayi.
Raja, C.K.	The Siva Sutra of Panini (An analysis) AORM 13 (Comm. no. 65-81).
Rajavada, V.K.	Yaska's Nirupta, Govt. Central Series, Bombay.
Shastri Charudev.	Upasargartha Chandrika, Delhi, 1976.
Shastri Kapildev.	Sanskrit Vyakarana Men Gannpath Ki Parampara or Acharya Panini Ajmer, 1952.
Shastri Ram Saran.	Paṇini Vayakarana Shastra Vaisesik, Tatva Mimansa, Delhi, 1976.
Shastri Satya Vrat.	i) Charudev Shastrī Felicitation Volume, Delhi, 1974.
	ii) Conception of Space (Dik) in the Vākyapadīya, JASL, 23, 21-26, 1957.
	iii) Conception of time in Mahabhashya, Aligarh, 1969.
	iv) Essays in Indology, Delhi, 1966.
	v) Some important aspects of the Philosophy of Bhartrihari, BHU Doct. Dess 1955.
	vi) Sri Charudev Shastri Abhinandana Grantha, Delhi-1973.
	vii) The Ramayana, a linguistic study, Delhi, 1964.
Singh Baldev (Dr.)	i) Pada Padartha Samiksha Kurukshetra, 1969.
	ii) Sanskrit Prabodh, 1976.
S.P. Narang	Bhatti Kavya—A Study.
Speijer, J.S.	Sanskrit Syntex, Motilal Banarsidass, Delhi.

Sidheshwar Verma. Critical Studies in the thoratic observations of Indian Grammarians, Munshi Ram Manohar Lal, Oriental Publishers and Booksellers, Nai Sarak Delhi.

Sumitra, M.K. Paninian Studies, P.K. Institute, Poona, 1967.

Surya Kanta. A Grammatical Dictionary of Sanskrit, I, Delhi-1953.

Taraporewala, D.S. Element of the Science of Language, Ind. Calcutta, 1951.

Thiema Paul, Panini and the Veda, Allahabad 1935.

Vachaspati Gesolas Sanskrit Sahitya Ka Itihas, Chowkhamba Vidya Bhawan, Varanasi-1975.

Verma S. Critical studies in the phonetic observations of Indian Grammarians, R.A. Londa-1929.

Verma S. The Etymology of Yaska.

Verma, S. The Vedic Limitations of the Siddhanta Kaumudi, S. P. (17th, AIOG) Ahmedabad, 1953, 105-56.

Vedalankar, Bhim Singh. Patanjali Mahabhashya men apurva-Kalpanayen, Parimal Publications, Delhi, 1988.

-do- Patanjali Mahabhashya men pratyakhayat Sūtra—Ek Samikshatmak Adhayyan, Kurukshetra, 1987.

Virendra Sharma. Vakyapadiya Sambandh Samudeshya, Hoshiarpur-1977.

Whitney William D. The Roots Verb-Forms and Primary Derivatiese of the Sanskrit Language, Harward University Press, 1941.

-do- Sanskrit Grammar, Hardward University, Press 1941.

Yajan Veer, Dr. The Language of the Atharve-veda Inter India Publications, Delhi.

Yaska. Nirupta Ed. L. Sarup, the University of Punjab, 1927.

Journals

Allahabad University Studies, Allahabad.

Annals of the Bhanderkar Oriental Research Institute, Poona.

Bulletin of the Deccan College Research Institute, Poona.

Calcutta Orientel Journal, Calcutta.

Gurukul Patrika, Hardwar.

Journal of the Asiatic Society of Bengal, Calcutta.

Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Poona.

— ——— —